Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2350-0611**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 7.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XIII **No. - 2** **(April – June 2026)**

(Part – I)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - *A Referred Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao,** Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

ଔ

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh,** Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari,** Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain,** Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas,** Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Research Highlights"

➲	नारदस्मृति में सदाचार ***स्वागतम्*** ***डॉ. अंकिता मिश्रा***	01-04
➲	भवभूति के साहित्य में यज्ञ का धार्मिक एवं राजनीतिक स्वरूप ***डॉ. अनिल लाल***	05-09
➲	शिवशंकर श्रीनिवासक आलोचना–साहित्य ***योगानन्द कुमार मेहता***	10-14
➲	केशवदास की रामचंद्रिका में पौराणिकता ***कु. निष्ठा सिंह***	15-20
➲	जीवकान्तक उपन्यास मे आर्थिक दृष्टि ***निधि नन्दन***	21-23
➲	एकता एवं अखण्डता का मूलमंत्र हैः वसुधैव कुटुम्बकम् ***डॉ. राम कृपाल***	24-29
➲	आपातकाल (1975–1977) में मौलिक अधिकारों के निलंबन का संवैधानिक अध्ययन ***भूपेन्द्र कुमार अहिरवार*** ***प्रो. अशोक अहिरवार***	30-35
➲	राष्ट्रवाद : अवधारणा, विकास एवं समकालीन परिप्रेक्ष्य का एक अध्ययन ***अखिलेश कुमार*** ***अवध नारायण***	36-40
➲	प्राचीन एवं वर्तमान भारत में चल–अचल सम्पत्ति पर महिलाओं की स्थिति ***प्रो. (डॉ.) उपमा वर्मा*** ***अनूप कुमार***	41-45
➲	1857 के विद्रोह में वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व में शाहाबाद (भोजपुर) का जनआंदोलन–एक ऐतिहासिक विश्लेषण ***डॉ. कन्हैया प्रसाद सिन्हा***	46-51
➲	पाठ्यपुस्तक के समावेशन की अवधारणा : कक्षा–7 की पाठ्यपुस्तक 'समाज की खोजः भारत और आगे' का विषयवस्तु विश्लेषण ***डॉ. अखिलेश यादव*** ***आनन्द साहू***	52-60

नारदस्मृति में सदाचार

स्वागतम्*
डॉ. अंकिता मिश्रा**

सद्भिः आचार्यते इति सदाचारः अर्थात् सज्जनों के द्वारा जी आचरण का पालन किया जाता है सदाचार कहलाता है स्मृतियों में सदाचार को परम धर्म माना गया है – **आचारः परमो धर्मः**[1] । भारतीय ग्रन्थों में सदाचार के विविध पक्षों का अवलोकन किया जा सकता है ।

घर में माता-पिता ज्येष्ठ जन की सेवा सुश्रुषा सौहार्द व सम्मान करके सदाचार का पालन किया जा सकता है। कहा भी गया है – **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** ।[2] इस प्रकार विद्यालय में गुरुजनों के प्रति श्रद्धा अनुशासन परिश्रम सत्यवादिता सदाचारी का परिचायक है कार्य स्थल पर ईमानदारी कर्तव्य निष्ठा न्याय समय पालन और राष्ट्र जीवन में परोपकार देशभक्ति सार्वजनिक संपत्ति का संरक्षण सदाचार की श्रेणी में आता है।

इस प्रकार जो व्यक्ति सदाचार का पालन करता है वह आत्मिक सुख को प्राप्त करता है – **आचारात् लभते ह्यायुः** ।[3]

नारदस्मृति महत्वपूर्ण धर्म शास्त्रीय ग्रंथ है, जिसका उद्देश्य समाज में न्याय सदाचार व व्यावहारिक धर्म की स्थापना करना है। सदाचार मानव जीवन का मूल आधार है जिसके बिना सामाजिक व्यवस्था संभव नहीं है।

नारदस्मृति को न्याय शास्त्र के रूप में ख्याति प्राप्त है, किन्तु इसमें आचार्य व्यवहार और दायित्व तथा सदाचार के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है । राजा न्यायाधीश एवं व्यापारी वर्ग को पालन हेतु आचरण संबंधी नियम दिए गए हैं तो कर्तव्य का बोध भी कराया गया है।

नारदस्मृति में सदाचार को न्याय प्रक्रिया का आधार माना गया है और सदाचारी व्यक्ति को ही न्याय करने का अधिकारी भी बतलाया गया है –

व्यवहारो हि बलवान् धर्मस्तेनावधीयते ।
सूक्ष्मो हि भगवान् धर्मः परोक्षो दुर्विचारणः ।।[4]

न्याय एवं व्यवहार – नारद स्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यवहार शास्त्र का ज्ञाता नियुक्त हो अथवा अनियुक्त होकर भी शास्त्रानुसारी वक्तव्य उपस्थापित कर सकता है, क्योंकि जो शास्त्रानुसरण करता है वह दैवीवाक् अथवा निष्पक्ष कहता है –

अनियुक्तो नियुक्तो वा शास्त्रज्ञो वक्तुमर्हति ।
दैवीं च वाचं वदति यः शास्त्रमनुजीवति ।।[5]

नारदस्मृति में न्यायप्रक्रिया हेतु धर्मशास्त्रविद, कुलीन अभिजात्य संपन्न सत्यवादी, शत्रु और मित्र को समान दृष्टि से देखने वाले शब्द संस्कृत विद्वान् ही नियुक्त होते हैं–

* शोधछात्रा, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, वीर कुंवर सिंह वि.वि., आरा
** असिस्टेंट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, वीर कुंवर सिंह वि.वि., आरा

सभां शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदः ।
तत्प्रतिष्ठः स्मृतो धर्मा धर्ममूलश्च पार्थिवः ।।[6]

जिनका व्यवहार शुद्ध होता है वह सत्याचरण करने में सक्षम होता है नारद स्मृति भी धर्माचारी के व्यवहार शुद्ध पर कहता है - व्यवहार शुद्ध होने से सभासद शुद्ध होते हैं । धर्म के द्वारा उनकी शुद्धि होती है और धर्म ही उनकी शुद्ध को प्रकाशित करता है -

शुद्धिश्च तेषां धर्माद्धि धर्ममेव वदेत्ततः ।
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।।[7]

यहां दैनिक जीवन में व्यवहार योग्य शिक्षाप्रद अनुसरण योग्य बातों का उल्लेख भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है किस प्रकार के धन व्यवहार योग्य हैं और किस प्रकार के धन को काला धन की संज्ञा दी जाएगी यह नाटक स्मृति में वर्णित है

ब्याज कृषि वाणिज्य शुल्क शिल्प सेवा के द्वारा लब्ध धन और और उपकृत व्यक्ति का धन शबल धन है -

कुसीदकृषिवाणिज्यशुल्कशिल्पानुवृत्तिभिः ।
कृतोपकारादाप्तं च शबलं समुदाहृतम् ।।[8]

उत्कोच, द्युतकर्म, दूत कर्म दूसरों को पीड़ा देकर उपार्जित चोरी डकैती कपट के द्वारा अर्जित धन काला धन है -

उत्कोचद्यूतदौत्यार्तिप्रतिरूपकसाहसैः ।
व्याजेनोपार्जितं यच्च कृष्णं हि तदुदाहृतम् ।।[9]

ऐसे धन को शास्त्रों में त्याज्य माना गया है आते यह भी यह सत्कर्म की श्रेणी में नहीं आते ऐसे धन का व्यवहार वर्जित है

सामाजिक मर्यादा-

नारद स्मृति में व्यवहार नियमादी के साथ-साथ समाज में मर्यादित आचरण का सम्यक पालन संभव हो सके इस हेतु साक्ष्य और दायित्व इत्यादि पर भी प्रकाश डाला गया है

कुटुंब के स्वामी के बिना आदेश से कुटुंब के लिए शिष्य अंतेवासी दास स्त्री और भृत्य वर्गों द्वारा जो वह किया जाता है उसे स्वामी द्वारा वहन करना चाहिए -

ऋणं वा चत्कृतं कृच्छ्रे दद्यात् पुत्रस्य तत्पिता ।
शिष्यान्तेवासिदासस्त्री वैयावृत्यकरैश्च यत् ।।[10]

प्राचीन काल से ही विवादास पद स्थितियों में लिखित प्रमाण को ही सर्वसम्मति से उत्तम प्रमाण माना गया है नारद स्मृति में देश काल फल द्रव्य प्रमाण और सीमा के निर्णय में सर्व संदेह का नाश करने वाला लिखित प्रमाण उत्तम चक्षु माना गया है -

देशकालफलद्रव्यप्रमाणावधिनिश्ये ।
सर्वसन्देहविच्छेदि लिखितं चक्षुरुत्तमम् ।।[11]

सदाचार एवं धर्म–

धर्म का प्राण सदाचार है यदि सदाचार का पालन न किया जाए तो धर्म निष्फल हो जाएगा अतीब धर्म स्थापना हेतु समाज में सदाचार बनाए रखना अत्यावश्यक है –

धर्मैकतानाः पुरुषाः यदासन् सत्यवादिनः।
तदा न व्यवहारोभून्नं द्वेषो नापि मत्सरः ।।[12]

धर्मनिष्ठ व्यक्ति सत्यवादी होता था इसलिए तत्कालीन समाज में द्वेष और मत्स्यता भी नहीं थी धर्म और सब व्यवहार एक दूसरे के मुख पक्षी हैं सदाचार धर्म का प्राण पोशाक है और धर्म नष्ट होने पर मनुष्य का व्यवहार परिवर्तित हो जाता है – **नष्टेधर्मे मनुष्याणां व्यवहारः प्रवर्तते ।**[13]

नारद स्मृति में सत्य निष्ठ को धर्मज्ञ कहा गया है सच्चरित्र सत्य निष्ठ व्यक्ति अपने द्वारा किए गए व्यवहार को स्वीकार कर ले तो वह धर्मनिष्ठ है–

तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु ।
चरित्रं पुस्तकरणे राजाज्ञायां तु शासनम् ।।[14]

राजा को भी न्याय करने का अधिकार तभी है जब वह सत्पुरुष हो –

राजासत्पुरुषः सभ्याः शास्त्रं गणलेखकौ ।
हिरण्यमग्निरुदकमष्टांगः समुदाहृतः ।।[15]

धर्म शास्त्र की निष्पत्ति को सामने रखकर धर्म अधिकारी मत में आस्था रखकर व्यवहार परिसर में देखभाल करता है –

धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्.विवाकमते स्थितः ।
समाहितमतिः पश्येद् व्यवहारानमनुक्रमात् ।।[16]

सदाचार का सामाजिक महत्व–

सदाचार से ही व्यक्ति में सहनशीलता प्रेम करुणा और सहयोग की भावना विकसित होती है इससे समाज में आपसी व मनुष्य काम होता है और भाईचारे की भावना मजबूत होती है –

विश्वास व नैतिकता का विकास–

जब समाज में व्यक्ति सदाचार का पालन करते हैं तो वह ईमानदारी, सत्य और न्याय जैसे गुणों से सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाते हैं इसके अभाव में वह दंड का अधिकारी होता है –

रागादज्ञानतो वापि लोभाद्वा योऽन्यथा वदेत् ।
सभ्योऽसभ्यः स विज्ञेयः तं पापं विनयेन्नृपः ।।[17]

अपराध व अव्यवस्था में ह्रास –

सदाचारी व्यक्ति को अनुचित और अनैतिक कर्मों से दूर रखता है। उसे समझ में अपराध भ्रष्टाचार और हिंसा जैसी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रहता है राजा अपने शासन व्यवस्था में ऐसे प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखने हेतु साधु वह असाधु की परीक्षा करता है –

किंतु राजा विशेषेण स्वधर्ममनुरक्षता ।
मनुष्यचित्रवैचित्यात् परीक्ष्या साध्वसाधुता ।।[18]

सदाचारी व्यक्ति के चरित्र को मजबूत बनाता है और अच्छे चरित्र वाले नागरिक ही एक अच्छे समाज की नींव रखते हैं

सदाचार समाज का आधार स्तंभ है इसके बिना समाज और व्यवस्था स्वार्थ और हिंसा की ओर बढ़ सकता है इसलिए सामाजिक विकास शांति समृद्धि हेतु सदाचार का पालन करना अनिवार्य है।

सदाचार की समकालीन प्रासंगिकता और नारद स्मृति - आज समाज में स्वार्थ हिंसा भ्रष्टाचार और असहिष्णुता बढ़ रही है समझ में यदि इसी प्रकार स्वार्थ पड़ता और को व्यवस्था का विस्तार होता रहा तो समझ में अव्यवस्था संवेदनहीनता सामाजिक विघटन जैसी समस्याएं व्याप्त हो जाएगी। सदाचार वर्तमान समाज की मूलभूत आवश्यकता है जिससे समाज में पल्लवित हो रहे स्वार्थ हिंसा भ्रष्टाचार और असहयोगिता का निराकरण सत्य, अहिंसा, सहानुभूति, सहयोग और सम्मान से किया जा सकता है

नारद स्मृति में समाज में सुव्यवस्था हेतु न्याय आचरण धर्म व्यवहार पर पूर्ण रूपेण प्रकाश डाला गया है जो वर्तमान समय में हो रहे नैतिक पतन को रोकने समाज में सदाचार युक्त नेतृत्व पारदर्शिता न्याय लोक कल्याण को बढ़ावा देता है लोकतंत्र की सफलता सदाचार पर आधारित आचरण से ही संभव है

सन्दर्भ-सूची-

1- मनुस्मृतिः 1/108
2- तैतिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली 11/2
3- महाभारत, (अनुशासन पर्व104/6)
4- नारदस्मृतिःसम्पादक डा. ब्रजकिशोर स्वाईं,पुनर्मुद्रित संस्करण,चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1/40 पृष्ठ19
5- नारदस्मृतिः 3/2पृष्ठ49
6- नारदस्मृतिः 3/5पृष्ठ51
7- नारदस्मृतिः 3/7,8पृष्ठ52
8- नारदस्मृतिः 4/1/46पृष्ठ74
9- नारदस्मृतिः 4/1/47पृष्ठ74
10- नारदस्मृतिः 4/11 पृष्ठ61
11- नारदस्मृतिः 4/71 पृष्ठ82
12- नारदस्मृतिः 1/1 पृष्ठ3
13- नारदस्मृतिः 1/2 पृष्ठ4
14- नारदस्मृतिः 1/11पृष्ठ 8
15- नारदस्मृतिः 1/15 पृष्ठ9/10
16- नारदस्मृतिः 1/35 पृष्ठ15/16
17- नारदस्मृतिः 1/67 पृष्ठ29/30
18- नारदस्मृतिः 1/68 पृष्ठ30

भवभूति के साहित्य में यज्ञ का धार्मिक एवं राजनीतिक स्वरूप

डॉ. अनिल लाल*

सार :

प्रस्तुत अध्ययन ''भवभूति के साहित्य में यज्ञ का धार्मिक एवं राजनीतिक स्वरूप'' का अध्ययन है। भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक परंपरा एवं यज्ञ की अवधारणा का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यज्ञ केवल धार्मिक अनुष्ठान न होकर प्राचीन भारतीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक संरचना का भी अभिन्न अंग था। संस्कृत साहित्य के महान नाटककार भवभूति ने अपने तीनों नाटकों– महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित में यज्ञ की परंपरा को केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि राज्यव्यवस्था, राजधर्म, लोककल्याण, सामाजिक अनुशासन एवं राजनीतिक वैधता के आधार के रूप में भी प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य में यज्ञ धर्म और शासन के मध्य सेतु का कार्य करता है। राजा की धार्मिक प्रतिष्ठा, प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व, ऋषि–परंपरा की मान्यता तथा वैदिक संस्कृति के संरक्षण में यज्ञ की केंद्रीय भूमिका स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भवभूति का साहित्य तत्कालीन समाज के धार्मिक जीवन का प्रामाणिक दर्पण है। उनके नाटकों में ऋषियों के आश्रम, अग्निहोत्र, वैदिक अनुष्ठान, मंत्रोच्चारण, तपस्या तथा यज्ञीय संस्कारों का अत्यंत सजीव चित्रण मिलता है। विशेषतः महावीरचरित में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना नहीं था, बल्कि धर्म की रक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा का माध्यम भी था। इसी प्रकार उत्तररामचरित में राम का राजधर्म, लोकमत के प्रति उत्तरदायित्व तथा अश्वमेध यज्ञ की पृष्ठभूमि राजसत्ता की वैधता एवं राज्य की एकता का प्रतीक बनकर उभरती है।

राजनीतिक दृष्टि से भवभूति ने यज्ञ को राज्य की संप्रभुता, धार्मिक अधिकारिता एवं नैतिक शासन व्यवस्था के आधार के रूप में चित्रित किया है। वैदिक काल से ही राजसूय, वाजपेय तथा अश्वमेध जैसे यज्ञ राजकीय शक्ति, सार्वभौम अधिकार तथा साम्राज्य विस्तार के प्रतीक माने जाते रहे। भवभूति इन परंपराओं को अपने साहित्य में सांस्कृतिक एवं नैतिक दृष्टि से पुनर्परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार आदर्श राजा वही है जिसकी सत्ता धर्म पर आधारित हो तथा जिसका शासन यज्ञ की भावना अर्थात् त्याग, समर्पण, लोककल्याण एवं न्याय से प्रेरित हो।

विशिष्ट शब्द : भवभूति, यज्ञ, वैदिक धर्म, राजधर्म, अश्वमेध, महावीरचरित, उत्तररामचरित, मालतीमाधव, भारतीय संस्कृति, राजनीतिक दर्शन, धर्म एवं राज्य, वैदिक परंपरा आदि।

प्रस्तावना

यह शोध–लेख भवभूति के साहित्य में यज्ञ की धार्मिक एवं राजनीतिक अवधारणा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि भवभूति ने यज्ञ को केवल वैदिक कर्मकाण्ड के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय राज्यदर्शन, सांस्कृतिक निरंतरता, सामाजिक समरसता तथा नैतिक शासन की आधारशिला के रूप में स्थापित किया है। समकालीन संदर्भ में भी यज्ञ की यह व्यापक अवधारणा लोककल्याण, नैतिक नेतृत्व एवं सांस्कृतिक संरक्षण के लिए अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होती है। भवभूति के साहित्य का यह पक्ष भारतीय ज्ञान–परंपरा की निरंतरता तथा धर्म और राजनीति के समन्वित स्वरूप को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। भवभूति के नाटकों से यह भी स्पष्ट होता है कि धर्म और राज्य का संबंध प्रभुत्व का नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व, न्याय और लोकमंगल का संबंध है।[1]

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास वैदिक परंपरा, धार्मिक मान्यताओं और दार्शनिक चिंतन की दीर्घकालीन विकास–यात्रा का इतिहास है। इस सांस्कृतिक परंपरा के केंद्र में 'यज्ञ' की अवधारणा विद्यमान है, जिसने न केवल धार्मिक जीवन को दिशा प्रदान की, बल्कि सामाजिक संगठन, राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक संरचना तथा सांस्कृतिक निरंतरता को भी गहराई से प्रभावित किया। वैदिक साहित्य में

* अतिथि शिक्षक, आर.एल.एस.वाई. कॉलेज, औरंगाबाद, प्रा. भा. एवं ए. अध्ययन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
E-mail Id : anillaldos1985@gmail.com, Mob : 81020 28076

यज्ञ को सृष्टि के संरक्षण, देव–मानव संबंधों की स्थापना तथा ऋत के पालन का प्रमुख साधन माना गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों में यज्ञ की अनेक व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि यज्ञ केवल अग्नि में आहुति देने का कर्म नहीं, बल्कि त्याग, समर्पण, लोकहित, नैतिक अनुशासन तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यापक सांस्कृतिक अवधारणा है।[2]

प्राचीन भारतीय समाज में यज्ञ धार्मिक आस्था का केंद्र होने के साथ–साथ राजनीतिक जीवन का भी अभिन्न अंग था। राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय तथा अन्य राजकीय यज्ञ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं थे, बल्कि राजा की सार्वभौमिक सत्ता, शासन की वैधता, प्रजा की स्वीकृति तथा राज्य की एकता के प्रतीक माने जाते थे। इन यज्ञों के माध्यम से राजा स्वयं को धर्म के अधीन घोषित करता था और यह संदेश देता था कि उसकी सत्ता व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा पर नहीं, बल्कि धर्म, न्याय और लोककल्याण के सिद्धांतों पर आधारित है।[3] इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिंतन में यज्ञ ने शासन और धर्म के मध्य समन्वय स्थापित करने का कार्य किया।

भारतीय संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों, पुराणों तथा नाटकों के माध्यम से यज्ञ की इस बहुआयामी परंपरा का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण हुआ है। विशेष रूप से संस्कृत नाट्य साहित्य में यज्ञ केवल कथानक का एक प्रसंग नहीं, बल्कि सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों का द्योतक बनकर उभरता है। इसी परंपरा में संस्कृत के महान नाटककार भवभूति का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति, वैदिक धर्म, राजधर्म, मानवीय मूल्यों तथा आदर्श शासन की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो आज भी भारतीय चिंतन की अमूल्य धरोहर मानी जाती है।

भवभूति का काल सामान्यतः आठवीं शताब्दी ईस्वी माना जाता है। यह वह समय था जब भारतीय समाज में वैदिक, पुराणिक एवं दार्शनिक परंपराओं का समन्वय हो रहा था। राजनीतिक दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रीय राजवंशों का उदय हो चुका था तथा धर्म और राज्य के संबंधों की नई व्याख्याएँ सामने आ रही थीं। ऐसी परिस्थितियों में भवभूति ने अपने नाटकों महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित के माध्यम से धर्म, राजनीति, समाज और संस्कृति के आदर्श स्वरूप का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण किया। उनके साहित्य में वर्णित धार्मिक जीवन तत्कालीन समाज की वैदिक चेतना, आश्रम व्यवस्था, ऋषि–परंपरा, तप, यज्ञ तथा नैतिक मूल्यों का सजीव प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है।[4]

भवभूति के नाटकों में यज्ञ का स्वरूप बहुआयामी है। एक ओर वह वैदिक धार्मिक परंपरा का प्रतीक है, तो दूसरी ओर सामाजिक अनुशासन, राजकीय उत्तरदायित्व तथा लोककल्याण की आधारशिला भी है। महावीरचरित में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा हेतु राम और लक्ष्मण का प्रस्थान इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि यज्ञ की रक्षा केवल किसी धार्मिक अनुष्ठान की सुरक्षा नहीं, बल्कि धर्म, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था की रक्षा है। यहाँ राक्षसों द्वारा यज्ञ–विघ्न का अर्थ केवल ऋषियों के तप का विरोध नहीं, बल्कि धर्मसम्मत सामाजिक व्यवस्था पर आक्रमण भी है। राम का यज्ञ की रक्षा करना उन्हें धर्मरक्षक, संस्कृति–संरक्षक तथा भावी आदर्श शासक के रूप में स्थापित करता है।

इसी प्रकार उत्तररामचरित में यज्ञ का स्वरूप और भी व्यापक हो जाता है। यहाँ राम का शासन, राजधर्म के प्रति उनकी निष्ठा, प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व तथा अश्वमेध यज्ञ की पृष्ठभूमि यह स्पष्ट करती है कि आदर्श शासन धार्मिक मूल्यों और नैतिक दायित्वों पर आधारित होना चाहिए। अश्वमेध यज्ञ केवल राजकीय विजय का प्रतीक नहीं, बल्कि न्यायपूर्ण शासन, राज्य की अखंडता तथा प्रजा के विश्वास की पुनर्स्थापना का माध्यम भी है। भवभूति के अनुसार राजसत्ता तभी सार्थक है जब वह धर्म से संचालित हो तथा लोककल्याण को अपना सर्वोच्च उद्देश्य बनाए।

भवभूति के साहित्य में धर्म और राजनीति का संबंध अत्यंत सूक्ष्म एवं संतुलित रूप में व्यक्त हुआ है। उन्होंने न तो धर्म को केवल व्यक्तिगत साधना तक सीमित रखा और न ही राजनीति को शक्ति–संघर्ष का साधन माना। उनके विचार में धर्म, राजनीति का नैतिक आधार है और राजनीति, धर्म के व्यावहारिक क्रियान्वयन का माध्यम। यज्ञ इस समन्वय का सबसे सशक्त प्रतीक है, क्योंकि उसमें त्याग, अनुशासन, सहभागिता, न्याय, उत्तरदायित्व और लोकमंगल जैसे सभी आदर्श समाहित हैं। इस दृष्टि से भवभूति भारतीय राजनीतिक दर्शन की उस परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें राज्य का उद्देश्य केवल शासन करना नहीं, बल्कि धर्म की स्थापना, समाज की रक्षा और लोककल्याण को सुनिश्चित करना है।[5]

भवभूति के साहित्य में यज्ञ का सामाजिक पक्ष भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यज्ञ सामूहिक सहभागिता का अनुष्ठान है जिसमें राजा, ऋषि, पुरोहित, प्रजा तथा अन्य सामाजिक वर्ग अपनी–अपनी भूमिकाओं का

निर्वहन करते हैं। इससे सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक एकता तथा नैतिक अनुशासन की भावना विकसित होती है। यज्ञ के अवसर पर दान, अन्न–वितरण, विद्वानों का सम्मान, आश्रमों का संरक्षण तथा जनसहभागिता जैसी परंपराएँ समाज में सहयोग और परस्पर उत्तरदायित्व की भावना को सुदृढ़ करती थीं। अतः यज्ञ को केवल धार्मिक कर्मकाण्ड मानना उसकी व्यापक सांस्कृतिक एवं सामाजिक भूमिका की उपेक्षा होगी।

राजनीतिक दृष्टि से भवभूति के साहित्य में यज्ञ राज्य की वैधता और नैतिक अधिकारिता का भी प्रतीक है। प्राचीन भारतीय परंपरा में राजा की शक्ति का स्रोत केवल सैन्य बल नहीं, बल्कि धर्मानुकूल आचरण माना गया है। यज्ञ इस धर्मानुकूलता की सार्वजनिक अभिव्यक्ति था। यज्ञ के माध्यम से राजा यह प्रदर्शित करता था कि उसका शासन देव, ऋषि और प्रजाकृतीनों के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार यज्ञ शासन की नैतिक वैधता (Moral Legitimacy) का माध्यम बन जाता है। भवभूति ने अपने नाटकों में इसी आदर्श को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है।

समकालीन संदर्भ में भी भवभूति के साहित्य में यज्ञ की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक है। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में यद्यपि यज्ञ का पारंपरिक स्वरूप व्यापक रूप से व्यवहार में नहीं है, तथापि त्याग, लोकहित, उत्तरदायित्व, नैतिक नेतृत्व, सामाजिक समरसता तथा सांस्कृतिक संरक्षण जैसे उसके मूल सिद्धांत आज भी सुशासन के आधार माने जाते हैं। यदि यज्ञ को उसके दार्शनिक अर्थ में समझा जाए, तो यह केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि सार्वजनिक जीवन में उत्तरदायित्व, सेवा और लोककल्याण की जीवन–पद्धति का प्रतीक है। यही कारण है कि भवभूति का साहित्य वर्तमान समय में भी भारतीय सांस्कृतिक विमर्श, नैतिक राजनीति और सुशासन की अवधारणाओं को समझने के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होता है।

भवभूति के साहित्य में यज्ञ की अवधारणा : भवभूति के साहित्य में यज्ञ केवल वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतीक नहीं है, बल्कि धर्म, त्याग, लोककल्याण तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का व्यापक दार्शनिक सिद्धांत है। उनके नाटकों में यज्ञ को ऋषि–परंपरा, तप, सत्य तथा धर्म की रक्षा का माध्यम माना गया है। यज्ञ के माध्यम से मानव, प्रकृति तथा दैवी शक्तियों के मध्य सामंजस्य स्थापित होता है।[6] भवभूति ने यज्ञ को भारतीय संस्कृति की निरंतरता तथा नैतिक जीवन के आधार के रूप में चित्रित किया है।

भवभूति के साहित्य में यज्ञ का धार्मिक स्वरूप : भवभूति के नाटकों में धार्मिक जीवन का आधार वैदिक यज्ञ परंपरा है। महावीरचरित में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा का प्रसंग यह स्पष्ट करता है कि यज्ञ धर्म की प्रतिष्ठा का प्रमुख साधन है। यज्ञ के माध्यम से देवपूजा, ऋषि–सम्मान, तप, ब्रह्मचर्य तथा वैदिक संस्कारों का संरक्षण होता है। भवभूति ने यज्ञ को मोक्ष, पुण्य तथा धार्मिक अनुशासन से भी जोड़ा है। उनके अनुसार यज्ञ व्यक्ति और समाज दोनों के आध्यात्मिक विकास का माध्यम है।

यज्ञ एवं राजधर्म : भवभूति के साहित्य में राजधर्म का मूल आधार धर्म एवं यज्ञ है। आदर्श राजा वही है जो यज्ञ के माध्यम से धर्म की रक्षा करे और प्रजा के कल्याण के लिए शासन करे। उत्तररामचरित में राम का चरित्र इस आदर्श का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। राजा की धार्मिक आस्था, न्यायप्रियता तथा उत्तरदायित्व यज्ञीय भावना से प्रेरित दिखाई देते हैं।

यज्ञ का राजनीतिक स्वरूप : प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में यज्ञ राजकीय अधिकार, सार्वभौमिकता तथा शासन की वैधता का प्रतीक था। भवभूति ने अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों को केवल धार्मिक अनुष्ठान के रूप में नहीं, बल्कि राज्य की प्रतिष्ठा तथा राजनीतिक स्थिरता के साधन के रूप में चित्रित किया है। यज्ञ के माध्यम से राजा की शक्ति को धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती थी तथा शासन व्यवस्था को नैतिक आधार मिलता था।

समकालीन संदर्भ में भवभूति का यज्ञ–दर्शन : यद्यपि आधुनिक युग में यज्ञ का पारंपरिक स्वरूप सीमित हो गया है, तथापि त्याग, सेवा, उत्तरदायित्व, नैतिक नेतृत्व, पर्यावरण संरक्षण एवं सामाजिक सहयोग जैसे उसके मूल सिद्धांत आज भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। भवभूति का यज्ञ–दर्शन आधुनिक लोकतांत्रिक शासन, सुशासन, सांस्कृतिक संरक्षण एवं नैतिक राजनीति के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होता है।

अतः प्रस्तुत शोध–लेख का उद्देश्य भवभूति के साहित्य में वर्णित यज्ञ के धार्मिक एवं राजनीतिक स्वरूप का समग्र अध्ययन करना है। इस अध्ययन में महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित के आधार पर यह विश्लेषण किया जाएगा कि भवभूति ने यज्ञ को किस प्रकार धर्म, समाज, संस्कृति तथा राज्य के मध्य समन्वय स्थापित करने वाले सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया

जाएगा कि उनके साहित्य में यज्ञ केवल वैदिक कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि आदर्श शासन, नैतिक नेतृत्व, सामाजिक उत्तरदायित्व और भारतीय सांस्कृतिक निरंतरता की आधारशिला है। यही इस शोध का प्रमुख प्रतिपाद्य एवं मौलिक योगदान है।

साहित्य समीक्षा

प्रिया, शिवन पी., राव, पद्मा, पद्मनाभन, विवेक एवं चौतन्य, नल्लन सी. एस. के. (2025) इस शोध में यज्ञ की वैदिक अवधारणा का वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। लेखकों ने प्रतिपादित किया है कि यज्ञ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि सामाजिक स्वास्थ्य, पर्यावरणीय संतुलन तथा सामुदायिक कल्याण से भी जुड़ा हुआ है। यद्यपि यह अध्ययन भवभूति के साहित्य पर केंद्रित नहीं है, तथापि यज्ञ की व्यापक धार्मिक अवधारणा को समझने में यह अत्यंत उपयोगी है।[7]

दीक्षित, श्रुति (2024) दीक्षित ने यज्ञ को भारतीय दार्शनिक परंपरा में सृष्टि, धर्म तथा ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के संरक्षण के सिद्धांत के रूप में व्याख्यायित किया है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि यज्ञ केवल कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि नैतिक एवं दार्शनिक उत्तरदायित्व का प्रतीक है। यह दृष्टिकोण भवभूति के साहित्य में यज्ञ के धार्मिक स्वरूप को समझने के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है।[8]

भट्टाचार्य, पार्थ सारथि (2025) इस अध्ययन में अथर्ववेद तथा संस्कृत साहित्य में काल–दर्शन की विवेचना करते हुए भवभूति के मालतीमाधव के प्रसिद्ध कथन ष्कालो ह्ययं निरवधिःष का उल्लेख किया गया है। लेखक ने भवभूति की वैदिक दृष्टि तथा दार्शनिक चेतना को भारतीय सांस्कृतिक परंपरा से जोड़ते हुए उनके साहित्य की वैदिक पृष्ठभूमि को रेखांकित किया है।[9]

शर्मा, पुष्पेन्द्र कुमार एवं पण्डित, स्निग्धा (2021) इस अध्ययन में यज्ञ की सामाजिक, पर्यावरणीय तथा सांस्कृतिक उपयोगिता का विश्लेषण किया गया है। लेखकों के अनुसार यज्ञ भारतीय जीवन–दर्शन में सामूहिक उत्तरदायित्व, नैतिक अनुशासन तथा सामाजिक समरसता का माध्यम है। यह अध्ययन यज्ञ की व्यापक सामाजिक भूमिका को समझने में सहायक है, जो भवभूति के साहित्य में भी परिलक्षित होती है।[10]

पाठक, स्नेहा (2020) पाठक ने कल्प वेदांग के आलोक में यज्ञ की विधि, उद्देश्य तथा वैदिक स्वरूप का विश्लेषण किया है। अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि यज्ञ वैदिक समाज के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संगठन का प्रमुख आधार था। यह शोध भवभूति के साहित्य में वर्णित यज्ञीय परंपरा की वैदिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।[11]

इन अध्ययनों के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि भवभूति के साहित्य में यज्ञ के धार्मिक एवं राजनीतिक स्वरूप का समन्वित अध्ययन अभी भी अत्यंत सीमित है। अधिकांश शोध या तो वैदिक यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या करते हैं अथवा भवभूति के साहित्य का सामान्य साहित्यिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालतीमाधव में यज्ञ को राजधर्म, राज्यसत्ता, राजनीतिक वैधता, सामाजिक अनुशासन तथा सांस्कृतिक संरक्षण के संदर्भ में एकीकृत रूप से समझने का प्रयास अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है।

उद्देश्य

1. भवभूति के साहित्य में वर्णित यज्ञ की धार्मिक अवधारणा का समग्र अध्ययन करना।
2. महावीरचरित, मालतीमाधव एवं उत्तररामचरित में यज्ञ के स्वरूप एवं प्रयोजन का विश्लेषण करना।
3. भवभूति के साहित्य में यज्ञ एवं राजधर्म के पारस्परिक संबंधों का मूल्यांकन करना।
4. यज्ञ के माध्यम से राज्यसत्ता, शासन–व्यवस्था एवं राजनीतिक वैधता के स्वरूप का अध्ययन करना।
5. भवभूति के साहित्य में यज्ञ के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक पक्षों का विश्लेषण करना।

परिकल्पना

1. भवभूति के साहित्य में यज्ञ केवल धार्मिक अनुष्ठान न होकर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का आधार है।
2. भवभूति ने यज्ञ को राजधर्म, लोककल्याण एवं आदर्श शासन–व्यवस्था के प्रमुख साधन के रूप में प्रस्तुत किया है।
3. महावीरचरित में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा का प्रसंग धर्म एवं राज्य–सुरक्षा के अंतर्संबंध को स्पष्ट करता है।
4. उत्तररामचरित में अश्वमेध यज्ञ राजनीतिक सार्वभौमिकता, राजकीय वैधता एवं नैतिक शासन का प्रतीक है।

निष्कर्ष

भवभूति संस्कृत साहित्य के उन महान नाटककारों में हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति, वैदिक धर्म तथा राजधर्म की अवधारणाओं को अत्यंत प्रभावशाली एवं जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य का अध्ययन स्पष्ट करता है कि यज्ञ केवल वैदिक कर्मकाण्ड नहीं है, बल्कि भारतीय जीवन–दर्शन, सामाजिक उत्तरदायित्व, नैतिक शासन तथा सांस्कृतिक निरंतरता का व्यापक प्रतीक है। महावीरचरित, मालतीमाधव एवं उत्तररामचरित में यज्ञ के विविध प्रसंगों के माध्यम से भवभूति ने धर्म, समाज एवं राजनीति के मध्य गहन समन्वय स्थापित किया है। महावीरचरित में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा का प्रसंग यह प्रतिपादित करता है कि धर्म की रक्षा ही समाज और राज्य की रक्षा है। राम का चरित्र केवल धार्मिक नायक का नहीं, बल्कि धर्मसम्मत शासन के आदर्श प्रतिनिधि का स्वरूप ग्रहण करता है। इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ की सुरक्षा वास्तव में वैदिक संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक मूल्यों की सुरक्षा का प्रतीक है। उत्तररामचरित में अश्वमेध यज्ञ का संदर्भ राजधर्म, लोकमत एवं उत्तरदायी शासन के आदर्शों को अभिव्यक्त करता है। भवभूति के अनुसार राजा की शक्ति केवल सैन्य सामर्थ्य से नहीं, बल्कि धर्म, न्याय एवं प्रजा के विश्वास से वैध बनती है। इस प्रकार यज्ञ राजनीतिक अधिकारिता, राजकीय उत्तरदायित्व तथा नैतिक नेतृत्व का आधार बनकर उभरता है।

भवभूति के साहित्य में धर्म और राजनीति का संबंध प्रभुत्व का नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व, न्याय एवं लोकमंगल का संबंध है। उन्होंने यज्ञ के माध्यम से यह प्रतिपादित किया कि आदर्श शासन वही है जो त्याग, सेवा, न्याय, करुणा एवं लोककल्याण जैसे मूल्यों पर आधारित हो। यह दृष्टिकोण भारतीय राजनीतिक चिंतन की विशिष्ट पहचान है, जिसमें राज्य का उद्देश्य केवल सत्ता का संचालन नहीं, बल्कि धर्म की प्रतिष्ठा और समाज का कल्याण है।

सामाजिक दृष्टि से यज्ञ सामूहिक सहभागिता, सांस्कृतिक संरक्षण एवं नैतिक अनुशासन का माध्यम है। ऋषि, राजा, प्रजा एवं समाज के विभिन्न वर्ग यज्ञीय परंपरा के माध्यम से एक–दूसरे से जुड़े रहते हैं। इससे सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक एकता एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास होता है। भवभूति ने इन मूल्यों को अपने साहित्य में अत्यंत संवेदनशील एवं कलात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है।

वर्तमान वैश्विक परिप्रेक्ष्य में, जहाँ नैतिक नेतृत्व, सुशासन एवं सांस्कृतिक संरक्षण की आवश्यकता निरंतर बढ़ रही है, भवभूति का यज्ञ–दर्शन विशेष रूप से प्रासंगिक सिद्ध होता है। यदि यज्ञ को उसके दार्शनिक अर्थकृत्याग, उत्तरदायित्व, सहयोग एवं लोकमंगल में समझा जाए, तो यह आधुनिक लोकतांत्रिक शासन एवं सामाजिक विकास के लिए भी प्रेरणास्रोत बन सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भवभूति के साहित्य में यज्ञ का धार्मिक एवं राजनीतिक स्वरूप भारतीय संस्कृति, राज्यदर्शन एवं मानवीय मूल्यों के समन्वित अध्ययन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत है।

सन्दर्भ सूची

1. उपाध्याय, बलदेव (2019) संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, चौखम्बा ओरिएण्टालिया, पृ0 26
2. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव (2009) प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, पृ0 123
3. काणे, पाण्डुरंग वामन (2017) धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 2) वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, पृ0 106
4. भवभूति (2020) महावीरचरित (सम्पा. रमाशंकर मिश्र) वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, पृ0 78
5. भवभूति (2020) मालतीमाधव (व्याख्या : गंगासागर राय) वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, पृ0 108
6. भवभूति (2021) उत्तररामचरित (सम्पा, रमाशंकर मिश्र) वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, पृ0 29
7. प्रिया, शिवन पी., राव, पद्मा, पद्मनाभन, विवेक एवं चौतन्य, नल्लन सी. एस. के. (2025) यज्ञ के सिद्धान्त एवं चिकित्सीय उपयोगिता जर्नल ऑफ फार्मेसी एंड बायोएलाइड साइंसेज, 16 (पूरक–5), 4271–4283
8. भट्टाचार्य, पार्थ सारथि (2025) अथर्ववेद के कालसूक्त में काल एवं अनन्तता : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन वर्ल्ड जर्नल फॉर वैदिक स्टडीज।
9. दीक्षित, श्रुति (2024) यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या : रायमोन पनिक्कर के विचारों का विश्लेषण रिलिजन्स, 15(6), 658.
10. शर्मा, पुष्पेन्द्र कुमार एवं पण्डित, स्निग्धा (2021) यज्ञ : वैश्विक समस्याओं का समाधान शोध आलेख, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
11. पाठक, स्नेहा (2020) कल्प वेदांग में यज्ञ की प्रासंगिकता, इंटरडिसिप्लिनरी जर्नल ऑफ यज्ञ रिसर्च, 3(1), 15–22

शिवशंकर श्रीनिवासक आलोचना–साहित्य

योगानन्द कुमार मेहता*

मैथिली साहित्यक इतिहासकार लोकनि मैथिली साहित्यक आधुनिककालक प्रारम्भ 1860 ई. सँ मानैत छथि। एहि उनैसभ शताब्दीक उत्तरार्द्ध सँ मैथिली साहित्यक आधुनिक कालक प्रस्थान–बिन्दु रूप मे रेखांकित करबाक पाछाँ किछु एहन कारक–तत्व सभ अछि जे तत्कालीन मिथिला समाज कें प्रभावित कयने छल। ई कारक–तत्व सभ ओहन छल जे सगर विश्व कें प्रभावित करबाक संगहि मैथिलीओक साहित्य कें नव स्वर आ नव आयाम प्रदान कयलक। आधुनिक कालक प्रारम्भ 1860 ई. सँ मानबाक पाछाँ जे किछु वैश्विक आ दैशिक स्तरक घटना–परिघटना सभ छल, से सभ छल– औद्योगिक क्रांति (1760 ई.), अंग्रेजी शिक्षाक प्रचार–प्रसार (1800 ई.), सिपाही विद्रोह (1857 ई.), आर्य समाजक स्थापना (1857 ई.), थियोसोफिकल सोसाइटीक स्थापना (1857 ई.), प्रार्थना समाजक स्थापना (1867 ई), जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सनक मधुबनी आगमन (1878–80 ई.), भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसक स्थापना (1885 ई.), कलकत्ता–पटना सन स्थान पर विश्वविद्यालयक स्थापना (1917–18 ई.), भीषण अकाल (1873 आ 1934 ई.) आ तकर पश्चात् रेल, तार, डाक आदिक प्रयोग एवम् प्रसार आदि। एहि घटना सभक जहिना तत्कालीन विश्व पर प्रभाव पड़ल, तहिना भारत पर पड़ल आ तहिना मिथिला पर सेहो पड़ल। एतहुक जनजवीन सेहो एहि बदलैत वैश्विक आ दैशिक स्थिति सँ प्रभावित होअय लागल, जकर स्पष्ट चित्र तत्कालीन साहित्य मे आबय लागल। कवीश्वर चन्दा झा, कविवर जीवन झा, भुवनेश्वर सिंह 'भुवन' लोकनि मैथिली साहित्यक एहि आधुनिकता बोधीय स्वर कें अकानलनि। तकरे सुपरिणाम छल जे मैथिली साहित्यक आधुनिक युगक सूत्रपात भेल जे अपन विभिन्न विधा मे आधुनिकता बोधीय रचना कें चरितार्थ कयलक।

आलोच्य साहित्यकार डॉ. शिवशंकर श्रीनिवास सेहो एही कालखंडक रचनाकार छथि। हिनक कथा, आलोचना, संस्मरण, सम्पादन आदि लेखन–कार्य समकालीन मैथिली साहित्यक बहुमूल्य आ बहुप्रशंसित सामग्री अछि। हिनका द्वारा रचल मैथिलीक रचनात्मक ओ समीक्षात्मक साहित्य पूर्णतः समकालीन भाव–बोध सँ भरल साहित्य अछि जे मैथिलीक समकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति कें एकटा नव प्रकार सँ रूपांकित करैत अछि आ अपन विशिष्ट शिल्प–शैलीक संग चित्रित आ व्याख्यायित करैत अछि। समकालीन मैथिली साहित्य मे 'सगर राति दीप जरय' नामक कथा–गोष्ठीक सूत्रपात् आ एहि माध्यम सँ समकालीन मैथिलीक कथा–साहित्य मे कथा–आन्दोलन कें प्रारम्भ करबाक श्रेय सेहो हिनके छनि।

मैथिलीक लेल आलोचना–कार्यक प्रारम्भ भेल अछि अंग्रेज विद्वान द्वारा। सर्वप्रथम अंग्रेज विद्वान लोकनि मैथिली भाशाक स्वरूपक अध्ययन कयल जाहि मे प्रमुख छथि– कोलब्रूक (1801), कैम्पवेल (1874), फैलेन (1875), बीम्स (1878), ग्रियर्सन (1880) लोकनि। एहि मे मैथिलीक लेल ग्रियर्सनक काज सर्वाधिक अछि। हिनक सभटा काज अंग्रेजी मे होइत छलनि। बाद मे मैथिली लिपिक, तिरहुता लिपिक काँटा बनाओल। ग्रियर्सनक कृति सभ छनि– मैथिली ग्रामर, मैथिली क्रिस्टोमेथी, ट्वेन्टी वन वैष्णव हीम्स, उमापतिज पारिजात हरण, गीतदीनाभद्रीक एण्ड नेवारक, मनबोधाज कृष्णजन्म। बंगालक विद्वान लोकनि सेहो मैथिलीक लेल प्रशंसनीय काज कयल। ओहि मे प्रमुख नाम अछि– नगेन्द्रनाथ गुप्त, म.म. हर प्रसाद शास्त्री, डॉ. सुकुमार सेन, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी आदि।

ई कार्य सभ मैथिलीक आलोचना हेतु पृष्ठभूमि रूप मे काज कयलक। मैथिली मे साहित्यक अनुसंधान आ आलोचनाक विधिवत् प्रारम्भ कवीश्वर चन्दा झा लग सँ मानल जाइत अछि। तकर बाद जे सभ एहि कार्य कें आगाँ बढ़ाओल ताहि मे प्रमुख छथि– डॉ. गंगानाथ झा, डॉ. अमरनाथ झा, डॉ. उमेश मिश्र, डॉ. सुधाकर झा, डॉ. रमानाथ झा, पं. दीनबन्धु झा, पं. शिवनन्दन ठाकुर, डॉ. सुभद्र झा लोकनि।

एहि क्रम मे मैथिली आलोचनाक क्षेत्र मे गवेषणात्मक निबन्ध, इतिहास–लेखन, जीवनी–लेखन, व्यक्तित्वपरक आलोचना, विश्वविद्यालयी शोध, भाषाशास्त्रीय लेखन, पुस्तक–समीक्षा, भूमिका आदिक माध्यम सँ मैथिलीक आलोचना–कार्य दिनानुदिन अपन गति कें प्रवहमान रखने रहल। ताहि क्रम मे मैथिलीक

* शोधार्थी, विश्वविद्यालय मैथिली विभाग, शैक्षणिक परिसर, भू.ना.म.वि., मधेपुरा (बिहार), मो– 09801400683

आलोचना क्षेत्र कैँ विस्तृत कयलक– शब्दकोश, काव्यशास्त्र, इतिहास–भूगोल–समाजशास्त्र, धर्म, दर्शन विज्ञानादि केन्द्रित लेखन।

सत्तरि आ अस्सीक दशक मे मैथिली साहित्य मे आलोचना–कार्य अत्यन्त सघन भेल। एहि मे आचार्य रमानाथ झाक परम्पराक बहुमूल्य योगदान छल। एहि क्रम मे रमानाथ झा आ अन्य मैथिलीक प्राध्यापकक अतिरिक्त साहित्यकार लोकनि सेहो एहि मे अपन योगदान देलनि। एहि समय मे मैथिली साहित्यक रचनाकार लोकनि सेहो आलोचना मे सक्रिय भेलाह। एहि रचनाकार आलोचक वर्ग मे प्रमुख छलाह– राजकमल चौधरी, मायानन्द मिश्र, कीर्ति नारायण मिश्र, पं. गोविन्द झा, सुकान्त सोम, हरे कृष्ण झा, रामकृष्ण झा 'किसुन', धीरेन्द्र, विभूति आनन्द लोकनि। एहि समय मे श्री शिवशंकर श्रीनिवासजी सेहो अपन कथा, कविता प्रभृति रचनात्मक लेखन करैत आलोचनात्मक निबन्ध–लेखन दिस उन्मुख भेलाह।

मैथिली साहित्य मे आलोचना कहिया आरम्भ भेल एकर कोनो ठोस प्रामाणिकता वर्त्तमान मे नहि अछि। यद्यपि ई विश्लेषणक वस्तु अवश्य अछि। ओना मिथिलाक निवासी जन्महि सँ आलोचक होइत छथि। एतबहि नहि, एहि ठामक अशिक्षितो आ नारीगण लोकनि सेहो नीक आलोचक होइत छथि। गाम–घर मे कहबी आ फकड़ा एकर स्पष्ट उदाहरण छैक। कतेको स्त्री तँ हरेक बात मे एकटा फकड़ा कहि देतीह। एहिना हास्य–व्यंग्य मे सेहो आलोचनाक स्वरूप देखय मे अबैत अछि। ई व्यंग्य कोनो विद्वाने करैत छथि से नहि, समाजक खेतिहर, मजदूर अशिक्षित सभ सेहो करैत छथि। संस्कृत युग मे आलोचना व्यापक रूपें प्रचलन मे छल। दीपिका, मीमांसा, चन्द्रिका, समीक्षा आदि सभ आलोचनेक प्रतिरूप छल। एहि युग मे मीमांसक लोकनि एकहि ग्रंथ केँ अपना–अपना अनुसारे ओकर आलोचना करैत छलाह।

साहित्यिक आलोचना एहन दृष्टि दैत अछि जाहि सँ सामान्यो पाठक कोनो वस्तु के सुगमतापूर्वक बूझि सकैत छथि। आलोचना मे ओहि रचनाक नीक वा अघलाह वस्तुक सम्यक रूपेँ विश्लेषण कए पाठक के ओ पढ़बाक की परिणाम होयत, छन्द, ताल, मात्रा, विषय आदि सभ वस्तुक निरूपण कयल गेल रहैत अछि, जाहि सँ पाठक ओहि आलोच्य विषयक अध्ययन करय मे आनन्द अबैत छनि।

मैथिली साहित्यक प्रथम आलोचक किनका मानल जाय से अनिर्णीत प्रश्न अछि। ओना आधुनिक मैथिलीक विकास चन्दा झा सँ मानल जाइत अछि। चन्दा झा युगप्रवर्तक कवि छलाह। वर्तमानक प्रायः अनेक विधाक जड़ि कवीश्वरेक रचना सभ मे ताकल जाइत अछि। चन्दा झा कविक संगहि समर्पित अन्वेषक सेहो छलाह। कविक रूप मे हुनक जतेक प्रतिष्ठा अछि ओहिसँ किछुओ कम अन्वेषकक रूप मे नहि अछि। अनेक कविक रचनाक अन्वेषण कयलनि। विद्यापतिक कतेको पदक उद्धार कयलनि। संतकवि साहेब रामदासक रचनाक उद्धार कयल। एकर अतिरिक्त अनेको कविक रचना पर पाद–टिप्पिणी लिखि राज लाइब्रेरी मे संरक्षित कयलनि। ई टिप्पणी वास्तव मे मैथिली साहित्यक आलोचनाक आधार मानल जाइत अछि। एकर बाद ग्रियर्सन महोदय एहि आधार के आरो दृढ़ता देलनि। ओ मैथिली मे अनेक रचनाक अन्वेषण एवं प्रकाशन करबौलनि। संगहि मैथिली क्रिस्टोमैथि सेहो लिखलनि। एकर कतेको समयक बाद रमानाथ झा, जकान्त मिश्र, सुमनजी सदृश विद्वान लोकनि आलोचना साहित्य मे रचना करब आरम्भ कयलनि। ओ सुच्चा आलोचक जे अपन रचना मे मात्र आलोचने के प्रश्रय देलनि ओहन आलोचक गनले चुनल छथि। ओना मैथिली मे जतेक साहित्यकार छथि वएह लोकनि समालोचको छथि। किछुए साहित्यकार पूर्णतः कोनो एकहि विधा मे अपन रचना कयलनि अछि।

श्री शिवशंकर श्रीनिवास एहने साहित्यकार छथि जे अनेक विधा मे अपन कलम चलौलनि। ई मुख्यतः कथाकार छथि, मुदा समयानुकूल सशक्त आलोचक, समीक्षक सेहो छथि। हुनक मुख्य आलोचनात्मक ग्रंथ थिक– 1.बदलैत स्वर (2001), 2. मैथिली उपन्यासक आलोचना (2021), 3. विश्लेषण (2022)

एकर अतिरिक्त अनेक पत्र–पत्रिकाक माध्यम सँ समीक्षात्मक निबंध सेहो लिखलनि। हिनक समीक्षा वा आलोचना हंसवृत्तिक रहल अछि। ई अनेक रचनाक भूमिका लिखि ओकर महत्त्व के बढ़ा देलनि अछि। एहि भूमिकाक माध्यम सँ सेहो रचनाक विशिष्टता के देखौलनि अछि जे आलोचनेक एकटा अंगक रूप मे कहल जाय सकैत अछि।

हिनक एकटा निबंध, चेतना समिति सँ 2024 मे प्रकाशित आ अशोक द्वारा सम्पादित पुस्तक 'स्वाधीनताक स्वर आ मैथिली साहित्य' मे प्रकाशित अछि। एहि निबंध मे लेखक ई देखेबाक प्रयास कयलनि अछि जे मिथिला मे अनेक स्थानीय समस्या सभ अछि मुदा मिथिला वासी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन सेहो पाछू नहि रहल। लेखक कहैत छथि जे मिथिला तन– मन–धन सँ एहि स्वतंत्रता आन्दोलन मे लागल छल मुदा हुनका लोकनि के एहि सँ बेसी चिन्तनीय छल स्थानीय मुद्दा सभ, विशेष कय नारी समस्या। तेँ ओहि

समयक कथा हो वा उपन्यास वा आने कोनो विधा, सभ मे स्त्री–विर्मशक कोनो ने कोनो रूप निश्चित रूप सँ रहितहि छल। मिथिला भाषा मे कथा लेखन कने विलम्ब सँ आरम्भ भेल छल। आ सेहो नारी विमर्शक संग। यद्यपि ओहि समय देशक स्वतंत्रता महत्त्वपूर्ण छल। तैँ अनेक विद्वान अपन रचनाक स्वर के सेहो धार देलनि। लेखक लिखैत छथि–

''मैथिली कथा बीसम शताब्दीक दोसर दशक सँ आरम्भ भेल। आ ओहि संग नारी शोषणक विरूद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कऽ देलक। आ आन्दोलन आइ तक विभिन्न विभेद ओ विसंगतिक विरूद्ध स्वर उठबैत लिखा रहल अछि आ लिखल जायत। एहि आन्दोलनक सफलता ताकब तँ सेहो भेटत आ मैथिलीक कथा कतेक आगू बढ़लए आ नव–नव विसंगति कतेक जुड़लए सेहो स्पष्ट बुझाएत।

किन्तु हम विवेचनाक विषय खास अर्थ मे अछि। ओ आन्दोलन जाहि आन्दोलन सँ सम्पूर्ण भारतीय मानसिकता ब्रिटिश दासता सँ मुक्ति हेतु अपन मातृभूमिक बलि वेदी पर जीवन अर्पित करबाक लेल तैयार क' रहल छल। प्रत्येक भारतीय जीवनक लक्ष्य भऽ गेल छलैक स्वतंत्रताक प्राप्तिक।''[1]

ओना मुखर रूप सँ कोनहु स्वतंत्रता आन्दोलनक कथा देखबा मे नहि अबैत अछि। हँ 'प्रतिज्ञा–पत्र' एहन रचना अछि जाहि मे स्वतंत्रताक स्वर दृढ़ भेल अछि। आन्दोलनी सभ पुलिस द्वारा मारियो खाइत अछि आ जहलो जाइत अछि। श्री निवासजी लिखैत छथि– कथाक नायिका 'रमा' विरहक जीवन जीबि रहलीहे संगहि सासु द्वारा सेहो प्रताड़ित होइत छथि। हुनक सासु हुनका नैहर पठा दैत छथिन। ओ नैहर सँ पति के पत्र दैत छथि। ओहि पत्रक उत्तर मे ओ स्नेहक शब्दे जनहितक बात कहैत देशक हित मे अपन दाम्पत्यकेँ बलि बेदी पर चढ़ेबाक बात कहैत छथि।

एहि कथाक अन्त मे कथा नायक स्वाधीनताक आन्दोलनक क्रम मे जहल जाइत छथि। जहलक अवधि पूरा कयलाक बाद बाहर अबैत छथि। कथा मे ओकर बाद वर्णन जे अछि ओहि मे देखाओल गेल जे एक महिला दलक एक विराट जूलूस वन्दे मातरम् कहैत आबि रहल अछि, नारी समाज द्वारा आन्दोलक दृष्टि अद्भुत अछि। कतेक महिला पुलिस द्वारा निर्दयतापूर्ण प्रहार सँ घायल भ' जाइत छथि। ओ लोकनि आन्दोलनीक द्वारा अस्पताल मे दाखिल भेलीह। गणेश महिला लोकनि केँ जे घायलक उपचार मे छलीह, देख' गेलाह त' देखलनि ओहि महिला लोकनि मे हुनक पत्नी रमा सेहो छलीह।''[2]

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम मे देशक बच्चा–बच्चा 'वन्देमारम' मे आकण्ठ निमग्न छल। स्त्री–पुरुष सभ अपन स्वतंत्रताक लेल सड़क पर आबि गेल छल। एकर अभिव्यक्ति अंश रूप मे मैथिली साहित्यो मे आयल अछि। श्रीनिवासजीक शब्द मे द्रष्टव्य अछि– ''एहि मे मिथिला– भूमि, कोनो भूमि–खण्ड सँ पाछू नहि छल। बहुतो मैथिल सेनानी शहीद भेलाह। जेल गेलाह। अपंग भेलाह। ब्रिटिश सिपाही केँ लोक लुटेराक समांग बुझै छल। बच्चा के संजत करैक लेल माय कहैत छलीह सुति रह नहि त' 'गोरा पलटन' (कन्यादान–उपन्यास, हरिमोहन झा) आबि जायत। महात्मा गाँधीक सत्य–निष्ठा सँ एतेक लोक प्रभावित छल जे सजमनिक फ'र मे गॉधीजीक चित्र देख' लागल छल (अभिमानिनी–किरण) कहबाक अर्थ मिथिला भूमिक जनता सम्पूर्ण रूप सँ स्वाधीनताक आन्दोलन सँ जुटल छल।''[3]

एहि आलेख मे लेखक स्पष्ट करय चाहलनि अछि जे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम मे सम्पूर्ण मिथिलांचलक प्रत्येक जाति आ वर्गक लोकक संग नारी लोकनिक सहभागिता सेहो रहलनि। मुदा साहित्य मे जाहि प्रकारें ओकर चित्रण भेल अछि ओ अत्यल्प अछि मुदा संतोषक बात अछि।

दोसर आलोचनात्मक निबन्ध धनि– 'किरण–प्रसंग। एकर सम्पादक छथि डॉ० विनोदा नन्द झा ई' किरण मैथिली साहित्य शोध संस्थान, उजान सँ प्रकाशित भेल अछि। एहि मे किरणजीक रचनाक समीक्षा करैत शिवशंकरजी लिखैत छथि– ''डॉ. कांचीनाथ झा 'किरण' लोकधर्मी रचनाकार छलाह। संस्कृत साहित्यक मर्मज्ञ रहितो ओ मैथिलीक शब्दक अपन व्याकरणक ओ शास्त्रक पक्षपाती छलाह। ताहू मे शास्त्रक ओतेक परवाहि नहि करैत छलाह जतेक लोक जीवनक। यैह कारण छल जे किरणजी सँ पहिने मैथिलीमे कोनो कथा लिखल गेल ओ मिथिलाक खास–खास जाति ओ वर्गक कथा लिखल गेल। एहना ठाम सबसँ पहिने किरणजीक कथा 'मिथिला मिहिर' 1938क शारदीय अंक मे 'ऐ चारि खून कैँ खोज के निहार के,? प्रकाशित भेल जाहि मे दलित–श्रमिकक जीवनक कथा अछि, संगहि ब्रिटिश सरकार प्रशासनक आलोचना अछि। जे ई बात सिद्ध करैत अछि जे किरणजी साहित्यिक उद्देश्य लोक जीवनकेँ समाजक समक्ष आनब छल। किरणजी मानैत छलाह जे यावत् मिथिलाक श्रमिक आ दलितक उत्थान नहि होयत तावत् मिथिलाक उत्थान संभव नहि।''[4]

सुधांशु चौधरी (लेखन–विवेचन) नामक पुस्तक, जे शरदिन्दु चौधरीक सम्पादन मे प्रकाशित अछि, ओहि मे हिनक एकटा निबंध अछि– 'शेखर'जीक कथा–तत्त्व ओ परिचिति'। ई रचना 2025 ई. मे चेतना समिति प्रकाशन सं.–98क रूप मे सामने आयल। ई रचना सुधांशु शेखर चौधरीक परिप्रेक्ष्य मे हुनक रचनात्मक 'एलबम' कहल जा सकैत अछि। एहि आलेख मे श्रीनिवास हुनक पहिलहि कथा 'भारती'क तुलना राजकमल चौधरीक 'ललका पाग'क संग करैत लिखैत छथि– ''एहि कथा मे बहुत किछु साम्य अछि। दुनू कथाक रचना मे सात बरखक अन्तर अछि। 1948 ई. मे जे शेखरजी अपने दुर्दशा सँ बहरेबाक नारी मन केँ परेखलनि ओहन स्थिति 1955 ई. मे सेहो राजकमल बोध कयलनि।

''एहि समाज मे नारी केँ पुरुषक जीवन मे आनन्द देनिहारि रूप मे देखल जाइत रहल अछि। एहि मे यदि हुनका मे कोनो दुर्बलता छनि तँ हेय बुझल जाइत रहलीह। समाज मे स्त्री वर्ग सेहो दोसरि स्त्री केँ पुरुषक दृष्टि सँ देखैत रहलीह। ई भयंकर विडम्बना स्त्री वर्ग केँ समुचित आदर देबा मे बहुत घातक रहल।''[5]

'भारती' सन कथा मिथिलाक ओहि मानसिकता, जाहि मे स्त्री के दोयम स्तरक बूझल जाइत छल। इएह कारण छल जे तत्कालीन समाज मे बहुविवाह के प्रोत्साहित कयने छल। नारी अपन शोषणक विरोध नहि कय पाबि रहल छलीह। श्रीनिवासजी लिखैत छथि– ''हम पहिने कहलहुँ अछि जे 'भारती' कथा नारी दुर्दशा केँ देखबैत, ओहि सँ बहरेबाक लेल नारी मनक हिलकोरक कथा थिक। एहि ठाम हिलकोर सँ तात्पर्य अछि– ओहि स्थिति सँ बहरेबाक अंतः प्रेरणा। किन्तु से ओहि समय मे कठिन छल। किन्तु जैह छल से करैत भारती आगू अपन भावनात्मक विरोध करैत छथि। भारतीक पति जखने दोसर विवाहक यात्रा पर विदा होइत छथि तँ ओ यात्राक शुभ मंगल हेतु काँख तर घैल लेने 'ठाढ़ि भऽ जाइत छथि। ओहि काल हुनक दुनू आँखि सँ नोर खसैत रहैत छनि जे हुनक पति वसन्त केँ अटका दैत अछि।''

सुधांशु शेखर चौधरी 'पुरान बात' कथाक माध्यम सँ वर्तमान भौतिकवादी युग मे भाइ–भाइक बीच जनमैत ईर्ष्या, द्वेष लालच, बइमानी आदि के सम्मिलित रूप सँ उद्घाटित करबाक प्रयास कयल गेल अछि। मुदा संयुक्त परिवारक विछोह सहन नहि कए पबैत अछि आ दूनू भाइक मृत्यु भए जाइत छैक। श्रीनिवासजी एकरा एहि रूपेँ अभिव्यक्त कयलनि अछि– ''रमानाथ नौकरी करैत छलाह। पाइ कमाइत छलाह किन्तु अपने कमाइक बहुलांश अपन जेठ भाइ दीनानाथ केँ पठा दैत छलाह। माय एहि इच्छा सँ जे जेठ भाइ हुनका पर प्रसन्न रहथिन। किन्तु से नहि भऽ पबैत अछि। दीनानाथ अपना संग पत्नीक सुखक चिन्ता करैत रहैत छथि। रमानाथक स्त्री ओ धीया–पूता के कष्टक हुनका परवाहि नहि। ओ देखाबटी कर्ज करैत जाइत छथि जकरा सधेबा मे रमानाथ असक्षम भऽ जाइत छथि। हुनक असक्षमता केँ दीनानाथ बिना बुझने रमानाथक प्रति घृणा भाव लऽ अपन चुल्हा फूट कऽ लैत छथि। ई फूट होयब एहन आघात उत्पन्न करैत अछि जे रमानाथ आत्महत्या कऽ लैत अछि आ जखन दीनानाथ उक्त समाचार सुनै छथि तँ हुनक हृदय ओकरा सहन नहि कऽ पबैए आ हर्ट अटैक सँ मरि जाइत छथि। पृथकता कोना स्वार्थ ओ सुखकेँ धकेलि दूनू जान लऽ लैत अछि। यैह एहि कथाक मुख्यध्येय अछि।''

'एक सिंधाराः एक चाय' कथा सुधांशु शेखर चौधरीक प्रसिद्ध कथा अछि। एहि मे एकटा निम्नवर्गीय कमौआ बापक बेटा पारिवारिक वित्तीय स्थिति आ माय–बापक मनोरथ के बिसरि कऽ कोना मौजमस्ती करऽ लगैत अछि तकर कलात्मक प्रस्तुति भेलैक अछि। एहि कथाक मादे कथाकार कहैत छथि जे बेटाक होटलबाजीक खर्च मे बापके सभ जत्था बेचि देब पड़ल छलनि आ बाद मे अपन बाल–बच्चा भेलाक उपरान्त मात्र एक सिंधाड़ा आ एक कप चाह पर आबि जाइत छथि। श्रीनिवासजी एहि संबंध मे कहैत छथि– ''कथा संक्षिप्त, किन्तु प्रभावशाली छैक। पूर्व दीप्ति शैलीक प्रयोग कटगर छैक। विवरण आ कथ्य मे सामंजस्य छैक। तेँ ई कथा मोन केँ एकटा कलात्मक तुष्टि देबा मे सफल भेल छैक। आधुनिक कथाक स्वरूपक तुलना अनेको पाश्चात्य कथा–समीक्षक एकरा 'स्नैप शॉट' सँ करैत छथि। जीवनक प्रवाह मे कोनो मार्मिक क्षण केँ लक्ष्य कऽ ओकर चित्र खीचि लेब से एहि कथा मे छैक। की घटल छलैक, की घटि रहल छैक आ आगाँ की घटित होयतैक तकर प्रतिविम्बन एहि कथा मे भलैक अछि।''

हिनक एकटा आर प्रसिद्व कथा अछि–'फूल दीदी'। एहि मे एकटा अनाथ असहाय महिला के अपना घर मे अपन बना कऽ राखब आ फेर वएह ओहि घर सर्वे–सर्वा बनि जाइत अछि। हुनका सभक मृत्यु भऽ गेल पर फूल दीदी हुनक बच्चा के अपन बेटा जेना प्रेम दुलार कए पोसलक आ ओकर विवाह–दान करओलनि। मुदा एक दिन तथाकथित पौत्र के एक थापड़ मारला पर पुतोहुक अपमान सुनि आत्महत्या कय लेलनि फूल दीदी। श्रीनिवासजी लिखैत छथि– जे फूल दीदी समस्त जीवनक पीड़ा सहलनि किन्तु ओ स्त्री

छलीह हुनका भीतर जे मातृत्वक धार बहैत छलनि ओकर बहती पर, पुतोहुक बात जेना कोनो चहान खसि रोकि दै छै तेहने बुझयलनि आ एकरा सहन नहि कऽ सकलीह आ आत्म हत्याकऽ लेलनि। कथाकार कथाकेँ एहन स्थिति जाहि ठाम जाकऽ फूल दीदी के आत्महत्या कऽ लैत छथि कथा लऽ जेबाक की प्रयोजन? ई सहजहिं प्रश्न उठैत अछि। एहि निबंध मे निबंधकार श्रीनिवास जी सुधांशु शेखर चौधरीक समग्र कथाक विश्लेषण कयलनि अछि। हिनक विश्लेषणक मुख्य आधार मानवीय संवेदना रहल अछि।

शिवशंकर श्री निवासक प्रमुख आलोचनात्मक पोथी थिक– 'मैथिली उपन्यासक आलोचना'। एहि आलोचनात्मक पोथीक द्वारा आलोचक उपन्यास मे मानवीय संवेदना के ताकबाक प्रयास कयलनि अछि। यद्यपि प्रत्येक उपन्यास मे संवेदना तऽ रहबे करतैक। बिनु मानवीय सरोकारक आ ओहि मे मानवक प्रति राग–विराग–अनुरागक कोनो उपन्यास लिखले नहि जाय सकैत अछि। तखन ओ उपन्यास मे जातीय एवं वर्गीय विषमता एवं स्त्री जातिक शोषणके लए विचार कयल गेल अछि। एहि मे आलोचक ई देखयबाक प्रयास कयलनि अछि जे मिथिला मे अदौकाल सँ प्रचलित अछि। हुनक मानब अछि जे मैथिली मे आइ धरि जतेक रचना भेल ओ एकटा खास वर्ग धरि सिमित रहल। ओहि मे उपेक्षित, पीड़ित गरीब, दलित, शोषित आदि वर्गक अभिव्यक्ति नहि भए सकल अछि। एहि संदर्भ मे पहिल प्रयास 'यात्रीजी'क 'बलचनमा' मे भेल अछि। बलचनमा पर मोहन भारद्वाजक एकटा समग्र पोथिए मे समीक्षा प्रस्तुत कयलनि अछि। एकर बाद ललितक 'पृथ्वीपुत्र', रमानन्द रेणुक 'दूध–फूल' आदि अनेक रचना आश्ल जाहि मे शोषित–पीड़ितक समस्या के उठाओल गेल अछि।

एवंविध देखैत छी जे शिवशंकर श्रीनिवास मोहन भारद्वाजक परिपाटीक आलोचना करैत छथि जाहि मे हुनक आलोचनाक आधार मात्र निम्नवर्ग–जातिक लोक रहैत अछि। दोसर दृष्टि मे स्त्रीक विभिन्न समस्या सभ के लए सेहो विचार प्रस्तुत कयलनि अछि। ओ अपन आलोचना मे जाहि दृष्टिकोणक प्रयोग कयलनि अछि ओ वास्तव मे मैथिली पाठक लोकनिक दृष्टि के फरीछ करैत अछि।

संदर्भ सूची–

1. पृ–182, स्वाधीनताक स्वर आ मैथिली साहित्य, सं– अशोक, चेतना समिति, पटना, 2004
2. पृ–182, तत्रैव
3. पृ–183, तत्रैव
4. पृ–5–6, किरण प्रसंग, द्वितीय खण्डक भूमिका, शिवशंकर श्रीनिवास,
5. पृ–129, तत्रैव

केशवदास की रामचंद्रिका में पौराणिकता

कु. निष्ठा सिंह*

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के रीतिकालीन कवियों में महाकवि केशवदास का विशिष्ट स्थान है। वे संस्कृत काव्य-परंपरा, अलंकार-शास्त्र तथा पौराणिक ज्ञान के अप्रतिम विद्वान थे। उनकी रचना रामचंद्रिका रामकथा पर आधारित एक महत्वपूर्ण प्रबंधकाव्य है, जिसमें वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, पुराणों तथा लोक-परंपरा के विविध तत्वों का समन्वित रूप मिलता है। यद्यपि रामचंद्रिका का मूल आधार रामकथा है, तथापि केशवदास ने इसे केवल धार्मिक आख्यान तक सीमित नहीं रखा, बल्कि पौराणिक प्रसंगों, देवी-देवताओं की स्तुतियों, अवतारवाद, ऋषि-परंपरा, दैवी चमत्कारों तथा धर्म-संस्कृति के विविध आयामों के माध्यम से इसे भारतीय सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधि ग्रंथ बना दिया।

रामचंद्रिका में पौराणिकता केवल कथा-वस्तु का आधार नहीं है, बल्कि वह काव्य की वैचारिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक संरचना का प्रमुख अंग है। इसमें राम को विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है तथा उनके चरित्र के माध्यम से धर्म, मर्यादा, आदर्श शासन, भक्ति और लोकमंगल की अवधारणाओं को स्थापित किया गया है। साथ ही, विभिन्न पौराणिक पात्रों और प्रसंगों के माध्यम से कवि ने भारतीय जीवन-मूल्यों, धार्मिक विश्वासों तथा सांस्कृतिक परंपराओं को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है।

बीज शब्द : पौराणिकता, रामकथा, अवतारवाद, विष्णु, पुराण, रीतिकाल, भारतीय संस्कृति, धर्म, भक्ति, मर्यादा, आदर्श राज्य, पौराणिक पात्र, सांस्कृतिक चेतना।

केशवदास हिंदी साहित्य के रीतिकाल के प्रारंभिक और सर्वाधिक प्रभावशाली कवियों में गिने जाते हैं। उनका जन्म बुंदेलखंड के ओरछा में एक विद्वान सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम काशीनाथ था, जो संस्कृत के विद्वान थे। पारिवारिक वातावरण के कारण केशवदास को संस्कृत साहित्य, व्याकरण, अलंकारशास्त्र, पुराण तथा दर्शन का गहन अध्ययन करने का अवसर मिला। केशवदास ओरछा नरेश महाराजा इन्द्रजीत सिंह के राजकवि थे। राजाश्रय प्राप्त होने के कारण उन्हें साहित्य-सृजन के लिए अनुकूल वातावरण मिला। उन्होंने अपने समय की साहित्यिक परंपराओं का अनुसरण करते हुए अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। उनके प्रमुख ग्रंथों में रसिकप्रिया, कविप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेव चरित, रतन बावनी तथा जहाँगीर जस चंद्रिका विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें रामचंद्रिका उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रबंधात्मक रचना मानी जाती है। केशवदास ने हिंदी साहित्य में रीति परंपरा को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। वे केवल अलंकारवादी कवि नहीं थे, बल्कि भारतीय संस्कृति, धर्म, नीति, भक्ति और पौराणिक परंपरा के समर्थ व्याख्याता भी थे। उनके काव्य में संस्कृत की विद्वत्ता तथा ब्रजभाषा की मधुरता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। भाषा की परिष्कृत शैली, अलंकारों का प्रभावी प्रयोग, छंदों की विविधता और भावों की गरिमा उनके साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजहीं, कविता बनिता मित्त॥"(1)

रामचंद्रिका में उन्होंने रामकथा को पौराणिक, सांस्कृतिक और काव्यात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। इस कृति में राम को केवल आदर्श राजा के रूप में नहीं, बल्कि विष्णु के अवतार और धर्म की स्थापना करने

* शोध छात्रा, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल – nishthasingh.up21@gmail.com

वाले पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रकार केशवदास ने भारतीय पौराणिक परंपरा को साहित्यिक सौंदर्य और कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए हिंदी साहित्य को एक अमूल्य धरोहर दी।

रामचंद्रिका महाकवि केशवदास की एक प्रसिद्ध प्रबंध काव्य रचना है, जिसका आधार भगवान श्रीराम के जीवन से संबंधित पौराणिक कथा है। इस काव्य में वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा अन्य पुराणों से प्राप्त कथाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यद्यपि कथा का मूल स्रोत प्राचीन रामकथा है, तथापि केशवदास ने अपनी मौलिक काव्य-दृष्टि, अलंकारिक शैली और सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से इसे विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है।

रीतिकालीन साहित्य में जहाँ श्रृंगार और अलंकार की प्रधानता थी, वहीं रामचंद्रिका इस परंपरा से आगे बढ़कर धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है। इसमें राम के जन्म से लेकर वनगमन, सीता-हरण, सुग्रीव-मित्रता, लंका-विजय तथा अयोध्या-प्रत्यावर्तन तक की घटनाओं का प्रभावपूर्ण वर्णन किया गया है। कवि ने कथा को केवल ऐतिहासिक या धार्मिक प्रसंग के रूप में नहीं प्रस्तुत किया, बल्कि उसे आदर्श जीवन, मर्यादा, कर्तव्य और धर्म के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है।

इस काव्य की रचना ऐसे समय में हुई जब भारतीय समाज राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। ऐसे वातावरण में केशवदास ने राम के आदर्श चरित्र के माध्यम से समाज को नैतिकता, धर्मपालन और लोककल्याण का संदेश दिया। उन्होंने पौराणिक प्रसंगों के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि भारतीय संस्कृति की मूल शक्ति धर्म, सत्य, न्याय और मर्यादा में निहित है।

रामचंद्रिका की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी पौराणिकता है। इसमें देवताओं, ऋषियों, अवतारों, दैवी शक्तियों, यज्ञों, वरदानों तथा धार्मिक आस्थाओं का व्यापक चित्रण मिलता है। साथ ही, कवि ने इन पौराणिक तत्वों को केवल कथा-विकास का साधन न बनाकर उन्हें भारतीय सांस्कृतिक चेतना के वाहक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। रामचंद्रिका केवल रामकथा का पुनर्कथन नहीं, बल्कि भारतीय पौराणिक परंपरा, धर्म और संस्कृति का कलात्मक तथा साहित्यिक दस्तावेज़ है।

'पौराणिकता' का अर्थ उन धार्मिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक तत्वों से है जिनका आधार पुराण, रामायण, महाभारत तथा भारतीय धार्मिक परंपराएँ हैं। भारतीय साहित्य में पौराणिकता केवल देवी-देवताओं और चमत्कारों का वर्णन नहीं है, बल्कि यह भारतीय जीवन-दृष्टि, नैतिक मूल्यों, लोकविश्वासों और सांस्कृतिक आदर्शों की अभिव्यक्ति भी है। पुराणों में वर्णित कथाएँ धर्म, नीति, भक्ति और लोककल्याण की भावना को स्थापित करती हैं, इसलिए भारतीय साहित्यकारों ने समय-समय पर इन कथाओं को अपने काव्य और गद्य में नवीन रूप देकर प्रस्तुत किया है।

"मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइए।
होम - हुतासन - घूम नगर एकै मलि नाइए।।"[(2)]

महाकवि केशवदास की रामचंद्रिका पौराणिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस काव्य का आधार रामकथा है, जो स्वयं भारतीय पौराणिक परंपरा का महत्वपूर्ण अंग है। कवि ने राम को विष्णु का अवतार, सीता को लक्ष्मी का स्वरूप तथा रावण को अधर्म और अहंकार का प्रतीक मानते हुए कथा को धार्मिक एवं दार्शनिक अर्थ प्रदान किया है। देवताओं का हस्तक्षेप, ऋषियों के आश्रम, यज्ञ, तपस्या, वरदान, शाप और दैवी शक्तियाँ पौराणिकता के प्रमुख तत्व हैं, जो रामचंद्रिका में निरंतर उपस्थित रहते हैं।

केशवदास ने पौराणिकता का प्रयोग केवल कथा को रोचक बनाने के लिए नहीं किया, बल्कि उसके माध्यम से आदर्श जीवन, धर्मपालन, कर्तव्यनिष्ठा और लोकमंगल का संदेश दिया है। उनके यहाँ पौराणिक प्रसंग मानव जीवन के नैतिक आदर्शों की स्थापना करते हैं। इस प्रकार रामचंद्रिका में पौराणिकता धार्मिक आस्था, सांस्कृतिक परंपरा और साहित्यिक सौंदर्य का समन्वित रूप बनकर सामने आती है।

रामचंद्रिका का मूल आधार वाल्मीकि रामायण है, परंतु केशवदास ने अध्यात्म रामायण, विष्णु पुराण, पद्म पुराण तथा अन्य पौराणिक स्रोतों से भी अनेक प्रसंग ग्रहण किए हैं। उन्होंने इन स्रोतों का केवल अनुकरण नहीं किया, बल्कि अपनी काव्य-दृष्टि के अनुसार उनका कलात्मक रूपांतरण किया है। यही कारण है कि यह काव्य मौलिकता और पौराणिकता दोनों का सुंदर समन्वय प्रस्तुत करता है। काव्य का प्रारंभ मंगलाचरण से होता है, जहाँ ईश्वर तथा देवताओं का स्मरण भारतीय पौराणिक परंपरा के अनुरूप किया गया है। इसके पश्चात राम के जन्म, विश्वामित्र के साथ वनगमन, शिव धनुष भंग, वनवास, रावण द्वारा सीता-हरण, हनुमान का लंका-गमन, सेतु-निर्माण, युद्ध तथा राज्याभिषेक जैसी घटनाएँ क्रमशः प्रस्तुत की गई हैं। ये सभी घटनाएँ रामायण और पुराणों से संबद्ध हैं।

" राम की वाम जो आनी चोराय सो लंक में मिचुकी बेलि बइजु ।
क्यों रण जीत हुगे तिनसों जिनकी धनुरेखी न लांघी गईजू।।"[(3)]

कवि ने प्रत्येक प्रसंग में दैवी योजना और धर्म की विजय को प्रमुखता दी है। राम का जन्म देवताओं की प्रार्थना का परिणाम है, रावण का वध अधर्म के अंत का प्रतीक है तथा रामराज्य धर्म, न्याय और लोककल्याण का आदर्श स्वरूप है। रामचंद्रिका का संपूर्ण कथानक भारतीय पौराणिक परंपरा पर आधारित होकर सांस्कृतिक चेतना को सुदृढ़ करता है।

रामचंद्रिका में राम को केवल अयोध्या के राजकुमार के रूप में नहीं, बल्कि भगवान विष्णु के पूर्णावतार के रूप में चित्रित किया गया है। भारतीय पौराणिक परंपरा के अनुसार जब पृथ्वी पर अधर्म बढ़ता है, तब भगवान विष्णु धर्म की रक्षा के लिए अवतार धारण करते हैं। रावण के अत्याचारों से पीड़ित देवताओं की प्रार्थना पर विष्णु ने राम के रूप में जन्म लिया। केशवदास ने इसी पौराणिक मान्यता को अपने काव्य का आधार बनाया है।

" भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित प्रयोधर,
भूखन जराव जोति तड़ित रलाई है।
दूरि करी सुख-मुख सुखमा शशि की, नैन,
अमल कमल दल दलित निकाइ है।।"[(4)]

राम के चरित्र में दैवी और मानवीय दोनों गुणों का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। वे आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति और आदर्श राजा हैं, साथ ही धर्म की स्थापना करने वाले ईश्वर भी हैं। उनके प्रत्येक कार्य में मर्यादा, करुणा, सत्य और न्याय की भावना विद्यमान है। यही कारण है कि वे 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहलाते हैं।

रावण-वध केवल एक युद्ध नहीं, बल्कि धर्म की अधर्म पर विजय का प्रतीक है। राम का वनवास, ऋषियों की रक्षा, वानरों का संगठन तथा रामराज्य की स्थापना उनके अवतारी उद्देश्य को सिद्ध करते हैं। केशवदास ने राम के माध्यम से यह संदेश दिया है कि ईश्वर मानव रूप में अवतरित होकर समाज में सत्य, न्याय और धर्म की स्थापना करते हैं। रामचंद्रिका में राम का विष्णु-अवतार स्वरूप पौराणिकता का सबसे महत्वपूर्ण आधार बनकर उभरता है।

रामचंद्रिका में देवताओं, ऋषियों तथा दैवी शक्तियों का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण मिलता है। ये पात्र केवल कथा की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं हैं, बल्कि कथा के विकास तथा धर्म की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारतीय पौराणिक परंपरा के अनुसार जब पृथ्वी पर अधर्म का प्रभाव बढ़ता है और राक्षसों के अत्याचारों से देवता तथा ऋषि पीड़ित होते हैं, तब वे भगवान विष्णु से प्रार्थना करते हैं। इसी प्रार्थना के फलस्वरूप भगवान राम का अवतार होता है।

काव्य में महर्षि वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, अत्रि, भारद्वाज आदि ऋषियों का उल्लेख मिलता है। ये ऋषि केवल तपस्वी नहीं, बल्कि धर्म, ज्ञान और संस्कृति के संरक्षक हैं। विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान देते हैं, जबकि वशिष्ठ राजधर्म और नीति का उपदेश करते हैं। अगस्त्य जैसे महर्षि राम को दैवीय शक्ति और आत्मबल प्रदान करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋषि भारतीय संस्कृति के नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शक हैं।

दैवीय शक्तियों का चित्रण भी अत्यंत प्रभावपूर्ण है। इंद्र, ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता समय-समय पर राम के कार्यों की प्रशंसा करते हैं और उनकी विजय की कामना करते हैं। हनुमान, जो शिव के अंशावतार माने जाते हैं, अपनी अद्भुत शक्ति, बुद्धि और भक्ति के कारण दैवीय सामर्थ्य के प्रतीक बन जाते हैं। इन सभी पात्रों के माध्यम से केशवदास यह सिद्ध करते हैं कि धर्म की रक्षा में दैवीय शक्तियाँ सदैव सत्य का साथ देती हैं। रामचंद्रिका में देव, ऋषि और दैवीय शक्तियाँ केवल धार्मिक विश्वास का प्रतीक नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय संस्कृति, धर्म, ज्ञान, तप, भक्ति और लोककल्याण की महान परंपरा का प्रतिनिधित्व करती हैं।

" सिर सेत विराजे कीरति राजे जनु केशव तप बल की।
तनु वलित- पलित जनु सकल वासना निकलि गई थल थल की।।"[5]

रामचंद्रिका की कथा अनेक पौराणिक पात्रों के सहयोग से पूर्णता प्राप्त करती है। प्रत्येक पात्र किसी न किसी नैतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है। भगवान राम धर्म, सत्य और मर्यादा के प्रतीक हैं, जबकि माता सीता पवित्रता, त्याग और पतिव्रता धर्म की आदर्श प्रतिमा हैं। लक्ष्मण सेवा, समर्पण और भ्रातृप्रेम का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भरत का चरित्र भारतीय संस्कृति में त्याग और आदर्श भाईचारे का सर्वोत्तम उदाहरण है। वे राज्य का अधिकार होते हुए भी राम की चरण-पादुकाओं को सिंहासन पर स्थापित कर स्वयं सेवक के समान जीवन व्यतीत करते हैं। हनुमान भक्ति, निष्ठा, पराक्रम और विनम्रता के प्रतीक हैं। उनकी निःस्वार्थ सेवा यह संदेश देती है कि सच्ची भक्ति कर्म और समर्पण में निहित होती है।

"लक्ष्मण राम जही अवलोक्यों।
नैनन ते ना रह्यो जल रोक्यों।।"[6]

रामचन्द्रिका में रावण, कुंभकरण और मेघनाद जैसे पात्र अधर्म, अहंकार और शक्ति के दुरुपयोग के प्रतीक हैं। रावण महान विद्वान होते हुए भी अपने अहंकार के कारण विनाश को प्राप्त होता है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि ज्ञान तभी सार्थक है जब उसके साथ विनम्रता और धर्म का पालन हो। सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान जैसे पात्र मित्रता, नीति, सहयोग और धर्मनिष्ठा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। विभीषण अपने भाई का साथ छोड़कर धर्म का पक्ष ग्रहण करते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि सत्य और न्याय का साथ देना ही श्रेष्ठ धर्म है।

महाकवि केशवदास ने रामचंद्रिका में पौराणिक प्रसंगों का अत्यंत कलात्मक और प्रभावशाली विन्यास किया है। उन्होंने रामायण की मूल कथा को आधार बनाते हुए विभिन्न पौराणिक घटनाओं का ऐसा संयोजन किया है कि कथा में निरंतरता, रोचकता और भावात्मक गहराई बनी रहती है। उनके काव्य में प्रत्येक प्रसंग का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि धर्म, नीति और आदर्श जीवन की स्थापना है।

रामजन्म, विश्वामित्र के साथ वनगमन, ताड़का-वध, अहल्या-उद्धार, सीता-स्वयंवर, वनवास, शबरी-मिलन, सुग्रीव-मित्रता, हनुमान का लंका-गमन, सेतु-निर्माण, रावण-वध और रामराज्य जैसे प्रसंगों को केशवदास ने अलंकारिक सौंदर्य, भावपूर्ण वर्णन और सांस्कृतिक दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया है। प्रत्येक घटना कथा को आगे बढ़ाने के साथ-साथ किसी न किसी नैतिक आदर्श को भी स्थापित करती है।

कवि केशवदास ने रामचंद्रिका में पौराणिक घटनाओं को केवल दोहराया नहीं, बल्कि उन्हें अपनी मौलिक कल्पना और काव्य-कौशल से अधिक प्रभावशाली बनाया। उपमा, रूपक, अनुप्रास तथा अन्य अलंकारों के

प्रयोग से कथा में सौंदर्य और प्रभाव की वृद्धि हुई है। साथ ही, संवादों और प्रकृति-वर्णन के माध्यम से पात्रों की भावनाओं को सजीव रूप दिया गया है। इन पौराणिक प्रसंगों के माध्यम से धर्म की विजय, अधर्म का विनाश, भक्ति की महिमा, आदर्श शासन और लोककल्याण का संदेश दिया गया है। यही कारण है कि रामचंद्रिका केवल धार्मिक आख्यान नहीं रह जाती, बल्कि भारतीय संस्कृति और जीवन-दर्शन का उत्कृष्ट साहित्यिक दस्तावेज़ बन जाती है।

रामचंद्रिका में धर्म, भक्ति और लोकमंगल की भावना काव्य का मूल आधार है। केशवदास ने रामकथा को केवल एक पौराणिक आख्यान के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि उसके माध्यम से भारतीय समाज के नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदर्शों को प्रतिष्ठित किया है। उनके अनुसार धर्म का वास्तविक स्वरूप सत्य, न्याय, करुणा, दया, कर्तव्य और लोककल्याण में निहित है। भगवान राम इन सभी गुणों के मूर्त रूप हैं। वे पुत्रधर्म, भ्रातृधर्म, पतिधर्म, मित्रधर्म और राजधर्म का आदर्श पालन करते हैं। यही कारण है कि उनका जीवन समस्त मानव समाज के लिए प्रेरणास्रोत बन जाता है।

"भृगुकुल- कमल- दिनेश सुनि, ज्योति सकल संसार।
क्यों चलिहैं इन सिसुन पै, डारत हो जस भार।।"(7)

काव्य में भक्ति की भावना अत्यंत प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुई है। हनुमान, शबरी, निषादराज, विभीषण तथा अन्य पात्र अपनी निष्काम भक्ति और समर्पण के माध्यम से यह सिद्ध करते हैं कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए बाहरी वैभव नहीं, बल्कि सच्ची श्रद्धा और निष्ठा आवश्यक है। केशवदास ने भक्ति को मानव जीवन की सबसे बड़ी शक्ति माना है। राम के प्रति भक्तों का समर्पण उन्हें आध्यात्मिक उन्नति तथा मोक्ष की ओर ले जाता है।

लोकमंगल की भावना रामचंद्रिका का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। राम का समस्त जीवन समाज की रक्षा, धर्म की स्थापना और जनकल्याण के लिए समर्पित है। रावण-वध केवल व्यक्तिगत प्रतिशोध नहीं, बल्कि अधर्म और अत्याचार के विनाश का प्रतीक है। रामराज्य का वर्णन न्याय, समानता, समृद्धि और सुख-शांति के आदर्श राज्य के रूप में किया गया है। धर्म और भक्ति को लोकमंगल से जोड़ते हुए यह संदेश दिया है कि सच्चा धर्म वही है जो समस्त समाज के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

रामचंद्रिका भारतीय सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति है। इसमें वर्णित पौराणिक प्रसंग केवल धार्मिक विश्वासों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि भारतीय समाज की परंपराओं, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक आदर्शों को भी व्यक्त करते हैं। केशवदास ने रामकथा के माध्यम से सत्य, धर्म, मर्यादा, त्याग, सेवा, करुणा, पारिवारिक प्रेम और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है। भारतीय संस्कृति में परिवार, गुरु, माता-पिता, अतिथि और समाज के प्रति सम्मान का विशेष महत्व है। रामचंद्रिका में इन सभी मूल्यों का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण मिलता है। राम का पिता की आज्ञा का पालन करते हुए वनवास स्वीकार करना, भरत का त्याग, लक्ष्मण की सेवा, सीता का पतिव्रत और हनुमान की भक्ति भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

" पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु।"(8)

पौराणिकता के माध्यम से केशवदास ने यह भी स्पष्ट किया है कि भारतीय संस्कृति का मूल आधार धर्म और मानवता है। देवताओं, ऋषियों, यज्ञों, तीर्थों तथा धार्मिक संस्कारों का वर्णन भारतीय सभ्यता की प्राचीन परंपरा को सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। साथ ही, रामराज्य की कल्पना न्यायपूर्ण शासन, सामाजिक समरसता और लोककल्याण की भावना को सुदृढ़ करती है। रामचंद्रिका में पौराणिकता भारतीय सांस्कृतिक चेतना का आधार बनकर उभरती है और यह कृति केवल धार्मिक ग्रंथ न रहकर भारतीय संस्कृति का जीवंत दस्तावेज़ बन जाती है।

यद्यपि रामचंद्रिका का आधार रामायण और पौराणिक परंपरा है, फिर भी यह अपनी मौलिकता के कारण हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है। केशवदास ने पारंपरिक कथा को अपनी काव्य-प्रतिभा, अलंकारिक शैली तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से नया स्वरूप प्रदान किया है। उन्होंने केवल घटनाओं का वर्णन नहीं किया, बल्कि पात्रों के मनोभाव, संवाद, प्रकृति-चित्रण और रसात्मकता को भी अत्यंत प्रभावशाली बनाया है। इस काव्य में ब्रजभाषा का परिष्कृत रूप, अलंकारों का सशक्त प्रयोग, छंदों की विविधता तथा भाव और कला का सुंदर समन्वय मिलता है। केशवदास ने संस्कृत साहित्य की परंपरा और हिंदी काव्यधारा के बीच सेतु का कार्य किया। उनकी भाषा में विद्वत्ता और सरसता का अद्भुत मेल है।

साहित्यिक दृष्टि से रामचंद्रिका केवल धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि एक उत्कृष्ट प्रबंधकाव्य है। इसमें वीर, करुण, शांत तथा भक्ति रस का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। साथ ही, यह कृति भारतीय संस्कृति, धर्म और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है। यही कारण है कि रामचंद्रिका हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर मानी जाती है और पौराणिक काव्य परंपरा में उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

निष्कर्ष

महाकवि केशवदास की रामचंद्रिका भारतीय पौराणिक परंपरा, सांस्कृतिक चेतना और साहित्यिक सौंदर्य का उत्कृष्ट समन्वय है। इसमें रामकथा के माध्यम से धर्म, सत्य, मर्यादा, भक्ति और लोकमंगल की स्थापना की गई है। कवि ने पुराणों और रामायण से प्राप्त कथाओं को अपनी मौलिक प्रतिभा के आधार पर नया कलात्मक स्वरूप प्रदान किया है। रामचंद्रिका की पौराणिकता केवल धार्मिक आस्था तक सीमित नहीं है, बल्कि वह भारतीय जीवन-दर्शन, नैतिक आदर्शों और सांस्कृतिक मूल्यों की संवाहक है। देवताओं, ऋषियों, अवतारों, दैवी शक्तियों और पौराणिक पात्रों के माध्यम से केशवदास ने यह स्पष्ट किया है कि धर्म की विजय और अधर्म का विनाश भारतीय संस्कृति का शाश्वत संदेश है। इस प्रकार रामचंद्रिका हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण प्रबंधकाव्य रचना है, जो पौराणिकता के माध्यम से भारतीय संस्कृति की महान परंपरा को सुरक्षित रखते हुए आज भी समाज को नैतिक और आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करती है।

संदर्भ सूचि-

1. संक्षिप्त रामचंद्रिका - संपादक जगन्नाथ तिवारी, गया प्रसाद एंड संस,आगरा-1945 , पृष्ठ संख्या -14
2. वही, पृष्ठ संख्या - 33
3. वही, पृष्ठ संख्या - 41
4. वही, पृष्ठ संख्या - 37
5. वही, पृष्ठ संख्या - 24
6. वही, पृष्ठ संख्या - 21
7. वही, पृष्ठ संख्या - 51
8. वही, पृष्ठ संख्या - 49

जीवकान्तक उपन्यास मे आर्थिक दृष्टि

निधि नन्दन*

भारतीय वाङ्मय में पुरुषार्थ चतुष्टयक अंतर्गत 'अर्थ' कँ भौतिक आ आर्थिक आधार मानल गेल अछि। कौटिल्य सँ लऽ कऽ आधुनिक अर्थशास्त्री धरि आर्थिक भावक अर्थ कँ निरूपित कयने अछि–

प्राचीन भारतीय विचार मे आर्थिक भाव सँ 'अर्थ'क सभ सँ प्रमाणिक आ ऐतिहासिक व्याख्या अचार्य कौटिल्य कयने छथि ओ कहैत छथि जे मनुश्यक आजीविका आ जाहि भूमि पर ओ रहैत छथि, ओ सभ 'अर्थ' अछि।

''मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।
तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।।''[1]

अर्थात् मनुष्यक जीविका कें अर्थ कहैत अछि आ जाहि भूमि पर मनुष्य रहैत छथि, ओहो 'अर्थ' अछि। ओहि भूमि कँ प्राप्त करब आ ओकर रक्षा करबाक उपायक निरूपण करऽवाला शास्त्र अर्थशास्त्र अछि।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे अर्थशास्त्रक जनक– 'एडम स्मिथ' अर्थ के विशुद्ध 'धन'क विज्ञान मानने छथि। हुनका अनुसार– मानव जीवनक आर्थिक क्रिया–कलापक मूल उद्देश्यक धनक अर्जन आ वितरण अछि।

''अर्थशास्त्र राष्ट्र सभक धनक स्वरूप तथा ओकर कारणादिक खोज सँ सम्बन्धित विज्ञान अछि।''[2]

हिन्दू जीवन–पद्धति आ दर्शन मे 'अर्थ'क अर्थ मात्र पैसा कमायब नहि, अपितु धर्म सम्मत विधि सँ भौतिक समृद्धि प्राप्त करब अछि – ''धर्मक अनुकूल आचरण करैत जीवन–यापन लेल भौतिक साधनहि, भूमि, सुवर्ण, यश आ संपत्तिक अर्जन करबहि 'अर्थ' नाम पुरुषार्थ अछि, जे काम अर्थात् इच्छाक पूर्ति आ मोक्षक आधार बनैत अछि।''[3]

आर्थिक भाव मे 'अर्थ'क अंतर्गत चारि मुख्य बिन्दु अबैत अछि–

1. वार्ता (आजीविका)– कृषि, पशुपालन आ व्यापार जाहि सँ धनक आगमन होइत अछि।
2. संपत्ति– भौतिक संसाधन, भूमि आ कनक
3. योगक्षेम– अप्राप्त धन के प्राप्त करब (योग) आ प्राप्त धनक रक्षा करब (क्षेम)
4. कल्याण– धनक एहन उपयोग, जाहिसँ समाज आ व्यक्तिक भौतिक भला होइ।

मैथिली साहित्यक प्रगतिशील आ यथार्थवादी उपन्यासकार लोकनि मे जीवकांतक स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण अछि। मध्यम वर्गक आर्थिक संतापक बिना कोनो लाग–लपेट के, अत्यंत धारदार शैली मे चित्रित कयने छथि। हुनक उपन्यासक मूल धूरी मे आर्थिक विपन्नता आ ओहि सँ उपजल सामाजिक विवशता–विपन्नता अछि।

जीवकांतक अत्यंत चर्चित उपन्यास थिक 'अगिनबान'। एहि मे मिथिलाक ग्रामीण समाजक आर्थिक कुरूपता आ वर्ग–संघर्ष कें देखाओल गेल अछि। एहि उपन्यास मे जीवकांत ओहि शोषित आ भूमिहीन वर्गक आर्थिक विवशता कें केन्द्र मे रखलनि अछि जे दिन–राति खटलाक बादो अपन न्यूनतम आवश्यकताक पूर्ति नहि कऽ पबैत अछि। महाजनी प्रथा आ आर्थिक लाचारीक कारण कोना गामक गरीब लोक अपन आत्मसम्मान बचेबाक लेल मजबूर होइत अछि, तकर यथार्थवादी चित्रण एहि मे अछि।

'दू कुहेसक बाट' नामक उपन्यास मे जीवकांत मध्यम वर्गक ओहि आर्थिक छटपटाहटि के उधारने छथि, जतय व्यक्ति अपन आर्थिक स्थिति के नुकेबाक आ सामाजिक प्रतिष्ठा बचेबाक अंतहीन संघर्ष मे लागल रहैत अछि। एहि मे ओ देखौलनि अछि जे आर्थिक तंगी कोनो मध्यमवर्गीय परिवारक अंतर्सम्बन्ध के छुच्छ कऽ दैत अछि। सीमित आय आ असीमित सामाजिक दायित्वक बीच पिसाइत मध्यम वर्गक आर्थिक पाखंड आ ओकर लाचारी कें ओ बड़ मार्मिकता सँ उघारने छथि। जीवकांतजीक उपन्यासक आर्थिक दृष्टि पर डा. देवेन्द्र झाक कहब छनि–

''जीवकांतक उपन्यास सभ मे मिथिलाक गामक ओहि आर्थिक यथार्थ के देखल जा सकैत अछि, जाहि मे बाढ़ि, सुखाढ़ आ व्यवस्थाक उपेक्षाक कारण आर्थिक ढाँचा पूर्णरूपेण टूटि चुकल अछि। हुनक पात्र

* शोधार्थी, विश्वविद्यालय मैथिली विभाग, भू.ना.म.वि. मधेपुरा, बिहार, मो–8294141082

आर्थिक रूप सँ जर्जर अछि, मुदा ओ आत्मसमर्पण नहि करैत छथि, अपितु अपन आर्थिक अधिकारक लेल संघर्ष करैत छथि।''[4]

जीवकांत आर्थिक दृष्टि के बुझबाक लेल ई स्पष्ट अछि जे ओ 'अर्थ' कें जीवनक नियामक मानैत छथि आ हुनक उपन्यास मिथिलाक जर्जर आर्थिक स्थितिक विरूद्ध एकटा सशक्त साहित्यिक प्रतिवाद थिकैक।

'दू कुहेसक बाट' उपन्यास मे दू गोट पुरुष पात्र जितेन्द्र आ नित्या, तथा स्त्री पात्र मीता अर्थात् अमिता ओ रश्मिक बारे मे आर्थिक स्थितिक समीक्षा एहिठाम संक्षिप्त रूपेँ राखब।

जितेन्द्र एहि उपन्यासक मुख्य पुरुख पात्र छथि। ई तीव्र आर्थिक तंगी आ अभावक मध्य जीबि रहल अछि। ओ अपन पढ़ाइ आ कलकत्ता–मधुबनीक मध्य खर्च करबाक लेल 15–20 टकाक लेल ट्यूशन पढ़बैत अछि। बाद मे आर्थिक तंगी और भविष्यक चिंता बढ़लाक बादो ओ ट्यूशन छोड़ि दैत अछि, जाहि सँ ओकर संकट और गहींर भऽ जाइत छनि। गाम मे ओकर पिताक बेमारीक कारण घरक गहना आ खेत पहिनहि बिका गेल छनि। ओकर माय आ बहिन बहुत कष्ट मे जीवन जीबि रहल छथि। कॉलेजक फीस आओर खर्च लेल ओ भारी मन सँ अपन सासुर जाइत अछि। ओतय ओकर स्वागत तँ होइत अछि मुदा जखन ओ कॉलेजक पढ़ाइ आ फीसक बात करैत छथि तँ ओकरा कोनो आर्थिक मदति वा प्रोत्साहन नहि भेटैत अछि। ओकर पत्नी अपन संचित पूंजी मात्र दूटा रूपैया ओकरा हाथ मे थम्हा दैत अछि, जे ओकर विवशता कें दर्शबैत अछि। ओ अपन 'देवशंकर'क घर पहुँचैत अछि तँ ओकरा चोरक समान ग्लानि होइत अछि, किएक तँ ओ मेसक व्यवस्थापकक रूपैया कर्ज नहि चुका सकल। ओकरा जेबी मे मात्र 3–4 टाका बचल रहैत अछि, जाहि सँ ओ गंभीर चिंता मे रहैत अछि।

नित्या सेहो जितेन्द्रक संगहि आर्थिक और मानसिक संकट सँ जूझि रहल अछि। नित्याक पिता देवशंकर गाम सँ आबि कऽ ओकर पढ़ाइ और भविष्यक लेल पाइ–कौड़ीक जोगाड़ करबाक चिंता मे छथि। हॉस्टलक मेस बंद भऽ गेलाक बाद नोटिस बोर्ड पर बकाया सूची देखि नित्याक चिंता और बढ़ि जाइत अछि। ओ अपन वर्त्तमान और भविष्यक अनिश्चतताक मध्य गहीर संघर्ष कऽ रहल अछि।

मीताक माध्यम सँ कथा मे स्त्रीक आर्थिक निर्भरता आ ताहि सँ उपजल मानसिक द्वंद्व के देखाओल गेल अछि। मीताक सौन्दर्य और आकर्षणक प्रति जितेन्द्र आकर्षित अछि, मुदा अपन दयनीय आर्थिक स्थितिक कारण ओ मीताक विवाहक बात सोचि, ईर्ष्या आ हीनताक बोध होइत छनि। ओकरा बुझाइत छैक जे अमीर लोकक लेल सभ अधिकार अछि आ गरीबक लेल ई सभ एकटा मजाक अछि।

रश्मिक विवाह देवगामा मे निश्चित भऽ जाइत अछि और आठ दिनक भीतर ओकर विदागरी निश्चित रहैत अछि। रश्मिक विवाहक एहि हड़बड़ीक पाछाँ सेहो पारिवारिक आर्थिक और सामाजिक दबाब स्पष्ट रूप सँ झलकैत अछि, जाहि सँ नित्याक भीतर सेहो एकटा टूट अबैत छैक।

उपर्युक्त बिन्दुक मादे ई स्पष्ट अछि जे जितेन्द्र और नित्या दुनू पात्र आर्थिक अभावक कारणे 'हीनभावना', 'अपराध–बोध' आ 'घृणा' सँ ग्रसित छथि। ओ सभ कॉलेजक फीस आर हॉस्टलक मेसक बिल चुकाबय मे असमर्थ छथि। जितेन्द्र देशक संविधान, नागरिक अधिकार आ कॉलेजक महग फीस पर व्यंग्य करैत अछि, किएक तँ ओकरा बुझाइत अछि जे ई आर्थिक व्यवस्था मात्र अमीर लोकक लेल अछि, गरीबक लेल नहि। आर्थिक तंगी और भविश्यक अनिश्चितता एतेक गहींर छैक जे पात्र सभक मन मे गाम सँ कलकत्ता भागि जेबाक अथवा आत्महत्या धरि कऽ लेबाक नकारात्मक विचार बुझाइत अछि। स्त्री आ पुरुष दुनू पात्र कोनो संपन्न वर्गक नहि, अपितु अत्यंत विपन्न, मध्यमवर्गीय आ शोषित आर्थिक पृष्ठभूमि सँ छथि, पाइ–कौड़ीक अभाव ओकरा सभक शिक्षा, पारिवारिक सम्बंध और मानसिक स्वास्थ्य कँ पूर्णरूपेण छिन्न–भिन्न कऽ देने अछि।

जितेन्द्रक कोठलीक वर्णन परम दरिद्रता कँ दर्शबैत अछि। ओकरा कोठली मे बड़ इजोत अछि, खपड़ैलक तर सँ धुआँ औनाइत अछि, नीचा कतहु–कतहु सँ प्लास्टर झड़ल अछि, हरदम पानि चूबाक कारणे पूरा कोठली सड़ाइन–सड़ाइन मँहकैत अछि। आर्थिक विपन्नताक कारणे जितेन्द्रक मन मे एकटा हीन भावना अछि। जखन ओ मीताक काल्पनिक पति आबि कऽ सोचैत अछि तऽ ओकर मध्य घुमऽ लगैत अछि। ओ अमिताक पति सँ अपन आर्थिक तुलना कऽ हीनता आ वितृष्णा सँ भरि जाइत अछि।

अमिताक माध्यम सँ उपन्यासकार गामक आ मध्यम/निम्नवर्गक आर्थिक लाचारी आ त्यागक प्रस्तुति बहुत मार्मिक रूपेँ कयने छथि। नित्याक थारी मे भात तँ अछि मुदा ओकर स्थिति बड़ दयनीय अछि। तरकारी आ दालिक अभाव छैक। जखन जितेन्द्र टोकैत छथि तऽ ओ रहैत छथि– किछु ले ने, भात तँ पड़ले छौ।'' ओ अभाव के नुकेबाक चेष्टा करैत अछि। नित्याक पढ़ाइ आ हॉस्टल/कॉलेजक खर्च के लऽ कऽ चिन्तित अछि।

से साफ देखाइत अछि। ओ कहैत छथि– 'ने पढ़बइ, ने हॉस्टल, ने कॉलेज।' ओकरा बुझाइत अछि जे पढ़ाइ जारी रखबाक लेल ओकरा लग आर्थिक सम्बल नहि छैक। नित्या अपन विवाह आ ओहि मे होबय वाला खर्चक प्रति आशंकित अछि। ओ बुझैत अछि जे विवाह करबाक लेल, माय–बाप के कतेक कपर–फाड़ करऽ पड़तैक। अमिताक ब्लाउज, जीप, टाइ, आ सूट जकाँ फर्स्ट क्लास कनियाँ बनबाक ओकर सपना आर्थिक अभावक कारणे धू–धू कऽ जरि रहल अछि। अन्य पात्र मे बाबाजी आ गामक लोक मादे ई प्रसंग अछि– जाहि मे मालिक सभक लग काल मे एक–दू बीघा जमीन कीनबाक, आर्थिक क्षमता छनि, मुदा गरीबक आँखि मे भूख आ छाती मे दर्द अछि, अमिताक सोझ उपस्थिति तँ एहि अंश मे नहि अछि। मुदा ओकरा एकटा समृद्ध आर्थिक पृष्ठभूमि वाला पात्रक रूप मे देखाओल गेल अछि जे जितेन्द्र आ नित्याक आर्थिक स्थिति सँ बिल्कुल भिन्न अछि। ई स्पष्ट अछि जे पात्र सभ आर्थिक अभावक कारणे मानसिक कुंठा आ वितृष्णाक शिकार अछि। उपन्यासकार एहि अंश मे दरिद्रता, सीलन भरल कोठली आ सीमित साधनक बड़ मार्मिक चित्रण कयने छथि।

अर्थशास्त्र राष्ट्र सभक धनक स्वरूप तथा ओकर कारणादिक खोज सँ सम्बन्धित विज्ञान अछि। तहिना कोनो व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्रक भौतिक आ वित्तीय संसाधनक ओहि स्वरूप के दर्शबैत अछि, जाहि सँ ओकरा जीवन–स्तर आ क्रयशक्ति निर्धारित होइत अछि। ई ओकर आर्थिक स्थिति कहबैत अछि। साहित्य आ समाजक अन्तर्सम्बंध मे उपन्यास आ आर्थिक स्थिति एक दोसराक पूरक अछि। मैथिली साहित्यमे आंचलिक आ सामाजिक उपन्यासक माध्यमे ग्रामीण मिथिलाक दयनीय आर्थिक स्थिति कर्जक जाल आ किसान मजदूरक आर्थिक शोषण कें प्रखरता सँ उठाओल गेल अछि। जीवकांतजी गामक आम गरीब, भूमिहीन मजदूर आ मध्यम वर्गक आर्थिक संताप कें निधोख रूपें अत्यंत धारदार शैली मे चित्रित कयने छथि। हुनक 'दु कुहेसक बाट' उपन्यास मे जे चित्रण अछि ओ पात्र सभ कोनो संपन्न वर्गक नहि, अपितु अत्यंत विपन्न, मध्यमवर्गीय आ शोषित आर्थिक पृष्ठभूमि सँ छथि, पाइ–कौड़ीक अभाव ओकर सभक शिक्षा, परिवारिक सम्बंध आ मानवीय स्वास्थ्य के पूर्णरूपेण छिन्न–भिन्न कऽ देने अछि।

संदर्भ ग्रंथ–सूची–

1. पृष्ठ– 613, कौटिल्यीय अर्थशास्त्रम्, आचार्य कौटिल्य, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1997,
2. पृष्ठ– 34–36, राष्ट्रों का धन, एडम स्मिथ, हिन्दी अनुवादक डा. जे.पी. मिश्रा, ल. ना. अग्रवाल, आरा, 1776,
3. पृष्ठ– 28–30, हिन्दू संस्कार, डा. राजबली पांडेय, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1998, पुनर्मुद्रण 2014,
4. पृष्ठ– 186–190, मैथिली उपन्यासक आलोचनात्मक इतिहास, डा. देवेन्द्र झा, मैथिली अकादमी, पटना, 1992.

एकता एवं अखण्डता का मूलमंत्र हैः वसुधैव कुटुम्बकम्

"The world is one family is the core mantra of unity and integrity"

डॉ. राम कृपाल*

सारांश :

वसुधैव कुटुम्बकम्" (वसुधा + एव + कुटुम्बकम्) का शाब्दिक अर्थ है" पृथ्वी ही परिवार है।" यह केवल एक विचार नहीं बल्कि भारतीय चिंतन और दर्शन की आत्मा है। हम यदि इसके सार तत्व का विश्लेषण करते है तो यह चार मुख्य स्तंभों पर टिका हुआ दिखाई देता है :-

- संकीर्णता से मुक्ति
- सह अस्तित्व एवं सौहार्द
- वन्य जीवों के कल्याण की परिकल्पना
- प्रकृति की रक्षा

यह दर्शन व्यक्ति को मेरा-तुम्हारा 'की छोटी सोच से ऊपर उठाता है। महाउपनिषद् में कहा गया है-

"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

यह मेरा है और यह पराया है, ऐसी सोच छोटे मन वालों की होती है। उदार मन वालों के लिए तो पूरी पृथ्वी ही एक परिवार है वेदों में मानव मात्र के लिए कल्याणकारी उपदेश निहित हैं, जो देश काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं होते हैं।वेदवाक्य राष्ट्रप्रेम, देश सेवा एवं उत्सर्ग के अनुप्रेरक कहे गये हैं। वेदों को भारतीय सभ्यता एवं दर्शन का विश्व कोश कहा गया है। वेदों में आदि कालीन मानव जाति के सामाजिक रीति-रिवाज का भी ज्ञान प्राप्त होता है। वेदों के माध्यम से रीति-रिवाज, राष्ट्र निर्माण एवं नागरिकों के कर्तव्यों का आत्म मंथन करने हेतु सामान्य जनमानस को विवश करते हैं। वैदिक साहित्य में निहित राष्ट्रीयता की भावना ही राष्ट्र के विकास में योगदान दे सकती है। राष्ट्रीय एकता के द्वारा राष्ट्र के नागरिकों में बीच आपसी प्रेम-सौहार्द को कायम रखा जा सकता है। वैदिक काल में राजा को राष्ट्र सेवक के रूप व्याख्यायित किया गया है न कि प्रशासक के रूप में। राजा का प्रमुख कार्य प्रजा का कल्याण एवं न्यायपूर्ण शासन प्रणाली की व्यवस्था/स्थापना करना । वैदिक कालीन संस्कृति को विश्वबंधुत्व की भावना का प्रतीक माना गया है। प्राचीन ऋषियों मुनियों ने चराचरात्मक जगत में आवासित सभी के कल्याण की परिकल्पना को साकार करने का अतुलनीय प्रयास किया है। चराचर जगत में आवासित प्राणिमात्र को मातृभूमि की सेवा करनी चाहिए। किसी भी राष्ट्र की समृद्धि वहाँ निवास करने वाले नागरिकों, कृषि योग्य भूमि एवं भौतिक संसाधनों पर निर्भर करती है। वैदिक साहित्य में शिक्षा एवं अध्यात्मिक ज्ञान को राष्ट्र के विकास हेतु उपयोगी कारक माना गया है/वैदिक साहित्य में परोपकार को नैतिकता के विकास हेतु आवश्यक कारक माना गया है-

परोपकाराय फलन्ति वृक्षा,परोपकाराय वहन्ति नद्या/

जब तक व्यक्ति के अंदर परोपकार की भावना का अभ्युदय नही होगा तब तक समुन्नत राष्ट्र/देशकाल की परिकल्पना नहीं की जा सकती है।

प्रस्तावना:

यह मेरा है और यह पराया है, ऐसी सोच छोटे मन वालों की होती है। उदार मन वालों के लिए तो पूरी पृथ्वी ही एक परिवार है- जैसे परिवार में अलग-अलग विचारों, स्वभावों और क्षमताओं वाले लोग एक साथ प्रेम से रहते हैं ठीक उसी प्रकार यह सिद्धांत दुनिया की सभी भाषाओं, संस्कृतियों, धर्मों और जातियों को स्वीकार कर उनके साथ शांतिपूर्वक रहने की प्रेरणा देता है।इसका सार स्वार्थ से परे हटकर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' (सभी सुखी हों) के भाव में निहित है। जब हम पूरी दुनिया को अपना परिवार मानेंगे, तो दूसरों के दुःख-दर्द को मिटाना हमारी नैतिक ज़िम्मेदारी बन जाता है।इसमें केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि पृथ्वी, पेड़-पौधे, नदियाँ और पशु-पक्षी भी उसी वैश्विक परिवार का हिस्सा हैं। यह हमें पर्यावरण की रक्षा और सभी जीवों के प्रति दया भाव रखने का संदेश देता है। वैदिक साहित्य-संस्कृति से

* सहायक आचार्य, भारतीय भाषा विभाग (संस्कृत–भाषा), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा, (महाराष्ट्र)
मो. 9452466249, ईमेल : drramkripalv@gmail.com

ज्ञात होता है कि नवीन उद्योगों की स्थापना से धन-वैभव में वृद्धि होती है जिससे व्यक्ति की व्यक्तिगत उन्नति के साथ राष्ट्र की उन्नति हो सकती है। राष्ट्र एवं समाज के उत्थान हेतु मानव को सदैव शुभ विचारों से युक्त होना चाहिए। राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता है जिससे व्यक्ति अपने कर्तव्यों का निर्धारण स्वयं कर सके तथा राष्ट्र का द्वितीय कर्तव्य जनकल्याण है, व्यक्ति को अपनी सुख-समृद्धि हेतु निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। हमारी वैदिक परम्परा ज्ञान की उपासक है जिसका प्रभाव हमें अनेक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में मिलता है। भारत में अनेक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राज नैतिक एवं धार्मिक भिन्नताओं के होने के उपरान्त राष्ट्र को एकता की डोर में बाँधे हुए है। इस एकता का मुख्याधार हमारी वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति है। वेद-पुराण-रामायण, महाभारत हिंदुधर्म की आस्था के केन्द्र बिन्दु हैं, तीर्थ, नदी, क्षेत्र, पर्वत, देवी-देवता, ऋषि-मुनि, सत्पुरुष इत्यादि के साथ हमारा राष्ट्र एकात्मकता के साथ खड़ा रहा है। हमारे राष्ट्र जीवन की सपना कुछ ऐसे ही है कि स्नान करते समय भी व्यक्ति वैदिक मंत्रों का उच्चारण करता है -

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥ (स्नान मंत्र)

वैदिक कालीन सभ्यता एवं संस्कृति में अवस्थित यही राष्ट्रीय भावना राष्ट्र की उन्नति में महत्वपूर्ण तथा आवश्यक होती है। पृथ्वी, धर्म एवं भाषा से परे समस्त प्राणियों को ऐसे धारण करती है जैसे सभी एक परिवार के सदस्य हों, इससे राष्ट्र के प्रति-कर्त्तव्यबोध एवं राष्ट्रीयता की भावना का भी अभ्युदय होता है।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥ [1]

इंद्र सूक्त में जगदीश्वर से स्वराष्ट्र के लिए धन-धान्य युक्त पुत्रों से समृद्ध होने की कामना गयी है-

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुः समुद्रं धरुणं रयीणाम्।
च कृत्यं शस्यं भूरिवा अस्मरभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ [2]

धन-धरा-धाम पर आवासित प्राणिमात्र को मातृभूमि की सेवा करनी चाहिए 'उपसर्प मातरं भुमिम'[3], 'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या'[4] मातृभूमि को नमस्कार है, पृथ्वी मातृभूमि या स्वदेश का पर्याय है।प्राणिमात्र को अपनी मातृभूमि एवं राष्ट्र के प्रति सजग होकर नेतृत्व करना चाहिए 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'[5] अथर्ववेद के भूमि सूक्त में ईश्वर ने यह उपदेश दिया कि अपनी मातृभूमि के प्रति माता सदृश भाव रखकर सदैव उसका सम्मान करना चाहिए-

सानो भूमि सृजतां माता पुत्राय मे पयः।[6]
भूमे मातनि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।[7]

प्राणिमात्र को अपने मातृभूमि की रक्षा हेतु आत्मबलिदान कर देना चाहिए ऐसा निर्देश वेदों से हमें प्राप्त होता है। यजुर्वेद के अनुसार राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता है जिससे वह अपने कर्तव्यों का निर्धारण स्वयं कर सके। राष्ट्र का दूसरा कर्त्तव्य जनकल्याण है, जिससे जनता की सुख समृद्धि हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए। राष्ट्र को विश्व कल्याण हेतु निरंतर कोशिश करते रहना चाहिए। किसी राष्ट्र की समृद्धि धन-धान्य एवं भौतिक संसाधनों पर निर्भर करती है। ज्ञान एवं शिक्षा को यर्जुवेद में राष्ट्र निर्माण हेतु आवश्यक बताया गया है। वैदिक संस्कृति समाज के सभी वर्गो के बीच प्रेम एवं सौहार्द को बढ़ावा देने की बात पर बल देती है ताकि सामाजिक एकता बरकरार रहे।

'सहृदयं सामनस्थं विद्वेषं कृणोमि वः।
अनयो अन्यमभिहर्यत अवत्सं जातमिवाहन्या॥[8]
उपस्थतेनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतं स्याम'॥[9]

हे मातृभूमि तेरी सेवा करने वाले हम सभी स्वस्थ रहें। मातृभूमि की सुरक्षा एवं संरक्षा हेतु आत्मोत्सर्ग करने के लिए सदैव तत्पर रहे। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। मातृभूमि एक माता दोनों स्वर्ग से भी बढ़कर बतलायी गयी है। विश्व के अन्य देश मानव की जन्मभूमि है परन्तु भारत मानवता की जन्मभूमि है। यही अखण्ड भारत की भूमि पर रहकर जीवन को सुखमय बनाने का उपदेश दिया गया है।

बीज शब्द: भद्रया सुप्रतिष्ठितम् , नमो मातृे पृथिव्या, जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी, सर्वे सन्तु निरामया, अयं निज: परोवेति, वसुधैव कुटुंबकम्।

शोध–प्रविधि :

प्रस्तुत शोध आलेख में विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक शोध-पद्धति का उपयोग कर निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाएँगे।

वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र के सर्वांगीण विकास हेतु जनमानस को प्रेरित किया गया है; जिससे नागरिकों में एकता, त्याग एवं परोपकार की भावना करते हुए राष्ट्र को हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए। राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता है, जिससे व्यक्ति अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण स्वयं कर सकें। सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ एवं परोपकार जैसी धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं को राष्ट्र के सर्वांगीण विकास हेतु आवश्यक माना गया है; जिसमें सभी प्राणियों के सुख-समृद्धि एवं शांति की कामना की गयी है—

'ऊँ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः, सर्वं शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि॥'
ऊँ शांतिः, ऊँ शांतिः, ऊँ शांतिः॥[10]

वैदिक वाङ्मय के माध्यम से सभी प्राणियों में एकत्व की भावना को स्थापित करने का प्रयास किया गया है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥[11]

एवं संपूर्ण विश्व एक परिवार के समान है। 'विश्वं भवत्येक नीऽम्' राष्ट्र कल्याण हेतु प्रत्येक व्यक्ति सौहार्द युक्त एवं मधुरभाषी होना चाहिए। चराचर जगत के प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का वास है। परामर्श, सभा, विचार एवं उद्देश्य समान होने पर एक राष्ट्र ही परिकल्पना को साकार किया जा सकता है—

यद् वदामि मधुमत् तत् वदामि। यदीक्षे तद् वनन्तिमा॥[12]

प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छाशक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार परिश्रम करते हुए राष्ट्र की उन्नति में सहयोग प्रदान करना चाहिए। राष्ट्र के कल्याण एवं प्रगति हेतु मानव का परिश्रमी होना नितान्तावश्यक है। नवीन उद्योगों के द्वारा धन्य-धान्य में वृद्धि होती है, प्राणिमात्र की व्यक्तिगत उन्नति से ही राष्ट्र की उन्नति हो सकती है-

"शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च। शुनं नो अस्तु चरित्रमुत्थितं च।"[13]

मन जागृत एवं सुप्तावस्था में दूर तक चला जाता हैं, क्योंकि यह बहुत ही चंचल है। मन प्रकाश एवं ज्योतिस्वरूप है और संपूर्ण प्राणियों में छिपा हुआ, वह आत्म प्रकाशित नहीं होता; वह तो एकाग्र वुद्धि से देखा जा सकता है। एकाग्र वुद्धि का अभाव होने से आत्मा दिखाई नहीं देती है। राष्ट्र तथा समाज के उत्थान हेतु मानव को सदैव शुभ विचारों से युक्त मन को रखना चाहिए। अतः: आत्मा दर्शन के प्रतिबंध का कारण समझ लेने पर उसके देखने का यत्न आरंभ किया जा सकता है—

"दूरगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"।[14]

मानव के अंतःकरण में मन एक प्रकार का प्रकाशपुञ्ज है, जो प्राणिमात्र को निरंतर आलोकित करता है, जिससे मानव की समस्त भावनाएँ जुड़ी रहती हैं, जो मनुष्य अपने मन को वश में करना जानता है उसके समस्त कार्य स्वयं सिद्ध होते चले जाते हैं। मन में उत्पन्न विचार ही भावी जीवन के आधार होते हैं; क्योंकि विचारों से ही व्यक्ति सज्जन एवं दुर्जन बनता है—

"आ नो भ्रदाः क्रतवो यन्तु विश्वतः"।[15]

संस्कृत- साहित्य एवं वेदों में विश्व-शांति हेतु प्रार्थना की गयी है, क्योंकि शांति राष्ट्र के विकास में सहायक होती है। अतंरिक्ष, द्युलोक, पृथ्वीलोक, औषधि, वनस्पति, देवगण इत्यादि से शांति प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है। जड़ एवं प्राणिमात्र के शांति प्राप्ति हेतु अभिलाषा की गयी है क्योंकि प्रकृतिजन्य विनाश को रोकना मानव के लिए असंभव है—

"ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि"॥

शांति के साथ ही व्यक्ति को निरंतर प्रकृति के विषय में सद्भाव रखना चाहिए। भारतीय साहित्य में बताया गया है कि कार्य कैसे सिद्ध होते हैं—

"उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः"॥ (पंचतन्त्रम्)

चराचर जगत में बिना परिश्रम के कोई भी कार्य संभव नहीं हो सकता है। मनुष्य को अपने उन्नति हेतु प्रगति पथ पर आगे बढ़ना चाहिए। विश्व कल्याण एवं प्रकृति हेतु मानव में मानवोचित गुणों का होना भी नितान्तावश्यक है, इन गुणों को धारण करता हुआ मनुष्य ही विश्व कल्याण के विषय में विचार कर सकता है- जो व्यक्ति हिंसक होता है, वह व्यक्ति समाज में न तो सम्मान प्राप्त करता है और न ही रहने का स्थान प्राप्त कर सकता है—

"मा नो स्तोके तनये मा न आयो।
मा नो गोषु मा न अश्वेषु रीरिष:"।।[16]

विश्व कल्याण के मूलतत्व वैदिक साहित्य में शांति एवं अहिंसा को बताया गया है, क्योंकि हिंसा मनुष्य को अशांत कर देती है—

"मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकम्" ।

संपूर्ण विश्व अनेक समस्याओं से जूझ रहा है; परंतु समस्याओं से बाहर आने का कोई मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है । वर्तमान समय की समस्याओं में आतंकवाद, बेरोजगारी, हिंसा, तानाशाही, रोगों का आक्रमण, महिला अत्याचार, भ्रष्टाचार इत्यादि असाध्य समस्यायें दिखाई पड़ रही है। इन सभी समस्याओं का व्यवस्थिति एवं स्थायी निदान वैदिक साहित्य के पास है, जिसमें मानव मन को शांति एवं सकारात्मक मार्ग की तरफ ले जाने की क्षमता है। सकारात्मक कर्मशीलता व्यक्ति को नकारात्मक उथल-पुथल से बचा लेती है,क्योंकि व्यक्ति को कर्तव्य प्रति सदैव संवेदनशील रहना चाहिए। कर्मशील व्यक्ति कभी भी बेरोजगार नहीं रह सकता। अंत:करण की शक्ति हेतु हमें वेदों के नैतिक मूल्यों को समझना होगा; जो संतोष धैर्य एवं कर्म पर आरुढ़ होने की शिक्षा प्रदान करते हैं। वेदों में द्युलोक को पिता तथा पृथ्वीलोक को माता कहा गया है। पृथिवी माता अमृत सदृश जल इत्यादि देकर मानव-जाति का पोषण करती हैं, सूर्य प्रकाश प्रदान कर पोषण में सहायता प्रदान करते है, चंद्रमा की किरणें शीतलता प्रदान करती हैं—

भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदस, तपो दीक्षम् उपनिषर्दुग्रे।
ततो राष्ट्रबलं ओजस् च जातम्, तद् अस्मै देवा उप सं नमन्तु।।[17]

वैदिकवाङ्मय में बताया गया है कि राष्ट्रहित चाहने वाले व्यक्ति को समस्त दुर्गुणों का परित्याग कर देना चाहिए—

मा नो निद्रा ईशत् मोत जल्पि:। सुवीरासो विदथमा वदेम्।।[18]

ईर्ष्या, क्रोध, मद्यपान, चरित्रहीनता, इत्यादि दुर्गुणों का परित्याग करना चाहिए क्योंकि ईर्ष्या-प्राप्त व्यक्ति कभी भी शांतिपूर्वक बैठ नहीं सकता और न ही कोई उचित प्रकार से कार्य कर सकता है। क्रोध के प्रभाव से व्यक्ति इतना उन्मुक्त हो जाता है कि उसे अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध ही नहीं हो सकता है तथा उचित निर्णय भी नहीं ले सकता है। यदि एक भी दुर्गुण मानव में है तो उसके समूलनाश हेतु पर्याप्त है—

उलूकयातुं शुशुलुकयातुं जहि श्वयानुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत् गृध्रयातुं वृषदेव प्र मृण: रक्ष इन्द्र:।।[19]

राष्ट्र कल्याण हेतु वेदों में नारियों की भूमिका महत्वपूर्ण है। नारी संतानों को जन्म देती हैं, अतएव सृष्टि स्वरूपा हैं। संतान को ज्ञान देने के कारण वह ब्रह्म के समान बतायी गयी हैं। ऋग्वेद में नारी को गृह कहा गया है—

"न गृहं गृहमित्याहु:, गृहिणी मृहमुच्यते"।

अथर्ववेद में कहा गया है कि पति-पत्नी को संयुक्त रूप से यज्ञ करना चाहिए—

"यतस्त्रुचा मिथुना या सर्पयत:।
भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते"।। (अथर्ववेद 20/25/03)

राष्ट्र के कल्याण एवं गौरव में वृद्धि हेतु नारी शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। वेदों में मानव को निरोगी होना नितान्तावश्यक बताया गया है, क्योंकि निरोगी मनुष्य सदैव प्रसन्नचित्त रहता है और प्रसन्न व्यक्ति ही राष्ट्र के हितार्थ चिंतन कर सकता है—

"यथा समसद् द्विपदे चतुष्पदे।
विश्वं पुष्टं ग्रामेऽस्मिन् अनातुरम्"।।[20]

राष्ट्र को समृद्ध बनाना है तो जनसंख्या पर भी नियंत्रण करना होगा ऐसा वेदों में निर्देश प्राप्त होता है—

"असबाधं मध्यतो मानवानाम्"।। (अथर्ववेद, 12/01/04)

बहुत सी संतानों को उत्पन्न करने वाला गृहस्थ या राष्ट्र अत्यंत कष्ट या दुर्गति को प्राप्त करता है । मनीषियों ने भारतभूमि की श्रेष्ठता को आधार बताकर मातृभूमि को अत्यंत आदरणीय माना है। इसी वैशिष्ट्य को विष्णु पुराण में उद्धृत किया गया है—

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने:।
यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमय:।।[21]

वेदों एवं उपनिषदों मे ऐसे अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं जो सह-अस्तित्व, विश्व-बन्धुत्व, लोक कल्याण, सर्वोदय, विश्वशांति की भावना से परिपूर्ण दिखायी पड़ते हैं। तैतरीयोपनिषद् की शिक्षाबल्ली में भी शांति की भावना अनुस्यूत होती है—

ओम् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै ओम् शांति: शांति: शांतिः ॥

मानव का जीवन शांति सामर्थ्य से परिपूर्ण हो, ऐसी कामना की गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित 'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय' इस मंत्र के माध्यम से संपूर्ण जीवन को सुखमय बनाने हेतु शिक्षा दी गयी है। तैतरीयोपनिषद् में प्रतिपादित सत्यंवद, धर्मंचर, स्वाध्यायान्मा प्रमद: मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। माता-पिता के प्रति पुत्र का कर्तव्य आचार्य के प्रति शिष्यों को कर्त्तव्य-बोध की शिक्षा दी गयी है। कर्तव्यपालन की शिक्षा भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवतगीता में दिया है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' कर्म पर ही व्यक्ति का अधिकार है उसके फल पर कभी नहीं। अधिकार प्राप्ति हेतु निःस्वार्थ होकर निरंतर कर्तव्य पथ पर चलने की प्रेरणा दी गयी है—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नराः"॥ (ईशावास्योपनिषद्)

व्यक्ति को अपेक्षा से नहीं बल्कि त्याग की भावना से कार्य करना चाहिए। त्याग की भावना से कार्य करने निर्देश हमें उपनिषदों से प्राप्त होता है। राष्ट्र की वैदिक अवधारणा वस्तुतः: 'बसुधैवकुटुंबकम्' की परिकल्पना पर आश्रित है, जिसमें प्राणिमात्र के प्रति उदारतापूर्ण भावना का पूर्णरूपेण समावेश दिखाई पड़ता है—

"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते"॥ (यर्जुवेद 40/6)

प्राणिमात्र को राष्ट्र कल्याण हेतु निरंतर तत्पर रहना चाहिए। प्राणिमात्र को 'सत्यंवद् धर्मं चर' का अनुपालन करना चाहिए—

"सत्यमेव जयते नानृतम्" (मुण्डकोपिनषद् 03/01/06)

मनुस्मृतिकार ने मानवीय कर्तव्यों की अभिव्यक्ति हेतु उपार्जित तत्वों की परमावश्यकता पर बल दिया है—

वेदऽलिखो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद् विदाम्।
आचारश्चैव साधूनंमात्मतुष्टिरेव च।। (मनुस्मृति2/6)

'वेदऽलिखो धर्ममूलं' का उद्देश्य राष्ट्रीय भावना के ओत-प्रोत होने से है, जिसमें राष्ट्रहित सर्वोपरि होता है, इसलिए जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के भाव से युक्त होकर मातृभूमि की सेवा करनी चाहिए। समष्टि हित हेतु व्यक्तिगत हितों का परित्याग कर देना चाहिए। यर्जुवेद में राष्ट्र का सर्वसुख एवं कल्याणप्रद कहकर राष्ट्र संर्वधन की भावना का उद्देश्य दिया गया है। भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है, यहाँ सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है। अथर्ववेद का यह मर्म सुपष्ट करता है कि विविध प्रकार भाषाएँ बोलने वाले, नानाधर्मावलम्बी, भिन्न प्रकार के प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वी चंचलता से रहित एवं स्थिर गाय के समान धन की सहस्रों धाराएँ प्रवाहमान होती हैं—

जनविभ्रतीं वहुधा विवाचसं, नानाधर्माणं पृथिवी यथोकसम्।
सहस्रधारा द्रविणस्य मे दुहां, ध्रुवेव धेनुरनय स्फुरन्ति।। (अथर्ववेद 12/01/20)

वेदों में पारस्परिक स्नेह, सौहार्द एवं समानता की कामना की गयी है। परिवार को राष्ट्र की मूल इकाई बताया गया है। यदि परिवार में शांति एवं प्रेम है तो समाज में शांति व्याप्त होगी। परिवार में यदि क्लेश, कलह, द्वैष, वैमनस्य, ईर्ष्या नहीं होगी तो राष्ट्र में सर्वत्र सुख-शांति एवं सौहार्द का वातावरण कायम रहेगा। एक श्रेष्ठ एवं आदर्श राष्ट्र में सुख-शांति तभी रह सकती है, जब उस राष्ट्र के पास पर्याप्त जल संसाधन, वनस्पतियाँ, गोधन इत्यादि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो। जहाँ शिल्पी उद्यमी कृषक, वैज्ञानिक संगठित होकर कार्य करते हैं। वेदों में राष्ट्र का स्वरूप इस प्रकार अभिव्यंजित होता है—

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृषय: सम्वभूव:।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमि: पूर्वपये दधातु।। (अथर्ववेद 12/01/3)

राष्ट्र कल्याण में सहभागिता के स्वस्थ्य होना नितान्त आवश्यक है। वेदों में निर्दिष्ट है कि प्रात:काल में सूर्यदेव अमृत की वर्षा करते हैं जिससे समस्त रोगों का समूलनाश होता है—

उदयन्त सूर्योनुदतां मृत्युपाशान्।
हृदरोगं मम सूर्य: हरिणाम् च नाशय:।। (अथर्ववेद 1/5/4)

निष्कर्ष –

राष्ट्र के लिए राजा का होना कितना आवश्यक है इसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड में मार्कंडेय ऋषि वशिष्ठ आदि मुनियों को राष्ट्रध्यक्ष की महत्ता बता रहे हैं- 'अराजक राष्ट्र में मत्स्य न्याय का सिद्धांत सर्वत्र दिखाई पड़ता है। वेद कालीन राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यबोध से पूर्णरूपेण सफल एवं जागरुक था। तत्कालीन समय में राजा के लिए राष्ट्रधर्म से बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं था। बलशाली एवं समर्थ सदैव कमजोर एवं असमर्थ लोगों पर अत्याचार करते हैं, जिससे सर्वत्र अराजकता फैल जाती है। राजा स्वयं प्रजा की माता-पिता के समान रक्षक एवं पोषक होती है—

"राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता-पिता चैव राजा हितकारी नृणाम्"।। (अथर्ववेद 12/01/3)

वेदों में शिक्षाएँ विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व के अभ्युदय के साधक एवं पोषक होती हैं। भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है। सभ्यता एवं संस्कृति ही व्यक्ति को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करती हैं, जिससे जीवन में सुख-शांति-आनंद की प्राप्ति होती है, यही वसुधैव कुटुम्बकम् का सार तत्व है "सीमाओं और मतभेदों से परे, पूरी मानवता को प्रेम, करुणा और आत्मीयता के एक धागे में पिरोना।"

सहायक ग्रंथ तालिका

1. *ऋग्वेद*, 10/191/03
2. *ऋग्वेद*, 10/20/08
3. *ऋग्वेद* 10/18/10
4. *यजुर्वेद* 9/22
5. *यजुर्वेद* 9/23
6. *अथर्ववेद* 12/01/10
7. *अथर्ववेद* 12/01/03
8. *अथर्ववेद* 03/30/01
9. *वैश्विक करण का वैदिक स्वरूप*, पृ. 67
10. *शुक्ल यजुर्वेद* 36/17
11. *ऋग्वेद* 10/09/03
12. *अथर्ववेद* 12/01/52
13. *अथर्ववेद* 03/12/01
14. *यजुर्वेद* 34/1
15. *ऋग्वेद* 1/39/2
16. *यजुर्वेद* 12/70/12
17. *अथर्ववेद* 19/41/01
18. *ऋग्वेद* 03/48/14
19. *ऋग्वेद* 07/104/22
20. *ऋग्वेद* 01/114/01
21. *विष्णु पुराण* 2/22

आपातकाल (1975–1977) में मौलिक अधिकारों के निलंबन का संवैधानिक अध्ययन

भूपेन्द्र कुमार अहिरवार*
प्रो. अशोक अहिरवार**

शोध सारांश :–

भारतीय संविधान नागरिकों को केवल शासन की रूपरेखा ही नहीं देता, बल्कि उनके जीवन, स्वतंत्रता और गरिमा की संवैधानिक सुरक्षा भी सुनिश्चित करता है। 'संविधान के भाग–तीन' में निहित 'मौलिक अधिकार' इस व्यवस्था की आधारशिला है। दूसरी ओर 'संविधान के भाग–अट्ठारह' में ऐसे प्रावधान भी किये गये हैं, जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय संकट की परिस्थितियों में राज्य को आवश्यक शक्तियां प्रदान करना है। इन दोनों व्यवस्थाओं (नागरिक स्वतंत्रता और राज्य की आपात शक्तियाँ) के बीच संतुलन बनाए रखना भारतीय संवैधानिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। किंतु इस संतुलित व्यवस्था को 25 जून 1975 को घोषित राष्ट्रीय आपातकाल ने गंभीर चुनौती दी।

सन् 1975 ईस्वी से 1977 ईस्वी तक लागू राष्ट्रीय आपातकाल भारत के लोकतांत्रिक इतिहास का एक ऐसा कालखण्ड है, जिसमें संविधान के आपातकालीन प्रावधानों का व्यापक प्रयोग हुआ और राज्य द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों के प्रभावी उपयोग पर बलात् गंभीर प्रतिबंध लगाये गये। प्रेस अभिवेचन (प्रेस पर सेंसरशिप), निवारक–निरोध, राजनीतिक विरोध का दमन तथा न्यायिक उपचार की सीमित उपलब्धता ने यह प्रश्न खड़ा कर दिया कि क्या संवैधानिक रूप से प्रदत्त असाधारण शक्तियां लोकतांत्रिक मूल्यों से ऊपर हो सकती है। इस अवधि में राज्य की शक्ति और नागरिक स्वतंत्रता के बीच उत्पन्न तनावपूर्ण परिस्थितियों ने भारतीय संविधान की व्याख्या, न्यायपालिका की भूमिका तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं की उत्तरदायित्व क्षमता की कठोर अग्निपरीक्षा ली।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य सन् 1975–1977 ई0 के आपातकाल के मध्य मौलिक अधिकारों के निलंबन का संवैधानिक अध्ययन करना है। इसमें आपातकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, संविधान के आपात अनुबंधों (अनुच्छेद 352, 358 एवं 359) का विश्लेषण, मौलिक अधिकारों पर पड़े प्रभाव, ए0डी0एम0 जबलपुर बनाम शिवाकांत शुक्ला के निर्णय की संवैधानिक समीक्षा तथा 44वें संविधान संशोधन के द्वारा किये गये सुधारों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। इतना ही नहीं इस शोध पत्र में यह भी समझने का प्रयास किया गया है कि आपातकाल के ऐतिहासिक अनुभव ने भारतीय लोकतंत्र और संवैधानिक न्यायशास्त्र को किस प्रकार प्रभावित किया।

प्रस्तुत अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि निश्चय ही आपातकालीन शक्तियां किसी भी संविधान की आवश्यकता हो सकती हैं परन्तु उनका औचित्य तभी तक है जब तक ऐसी शक्तियों का प्रयोग संविधान की मूल भावना, विधि के शासन तथा लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की सीमाओं में रहते हुए किया जाये। राष्ट्रीय आपातकाल (1975–1977) का अनुभव यह स्पष्ट करता है कि लोकतंत्र की वास्तविक सुरक्षा केवल लिखित संवैधानिक प्रावधानों से नहीं होती, बल्कि स्वतंत्र न्यायपालिका, उत्तरदायी विधायिका, निष्पक्ष प्रशासन, स्वतंत्र प्रेस एवं मीडिया और सजग तथा जागरूक नागरिक समाज के संयुक्त सह–अस्तित्व से सुनिश्चित होती है। तदैव प्रस्तुत अध्ययन केवल एक ऐतिहासिक घटना का पुनरावलोकन मात्र नहीं है वरन् समकालीन भारतीय लोकतंत्र के लिये भी एक महत्वपूर्ण संवैधानिक विमर्श है।

शब्द कुंजी :– आपातकाल, मौलिक अधिकार, अनुच्छेद 352, अनुच्छेद 358, अनुच्छेद 359, ए0डी0एम0 जबलपुर, 44वां संविधान संशोधन, लोकतंत्र, विधि का शासन।

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, डॉ हरीसिंह गौर केंद्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश
ईमेल bhupendraboudh600@gmail.com
** शोध निर्देशक, इतिहास विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केंद्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश
ईमेल ashokahirwar1963@gmail.com

प्रस्तावना :–

भारतीय संविधान की महति विशेषता यह है कि उसने राज्य की शक्ति और नागरिकों की स्वतंत्रता के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। एक ओर संविधान शासन के प्रभावी संचालन हेतु राज्य को आवश्यक अधिकार प्रदत्त करता है तो दूसरी ओर वह यह भी सुनिश्चित करता है कि इन शक्तियों का प्रयोग व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता में हस्तक्षेप के बिना किया जाए। यही कारण है कि भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों को विशेष महत्व दिया गया है। ये मौलिक अधिकार सिर्फ कानूनी प्रावधान नहीं हैं, बल्कि ये तो भारतीय लोकतंत्र की नैतिक और संवैधानिक प्रतिबद्धता का प्रतीक भी हैं।

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने यह भी स्वीकार किया था किसी राष्ट्र को कभी कभी ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है, जिसमें सामान्य संवैधानिक व्यवस्था अपर्याप्त पड़ जाए। युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा गंभीर आंतरिक संकट जैसी विकट स्थितियों में राज्य को अतिरिक्त शक्तियों की आवश्यकता पड़ सकती है। इसी उद्देश्य से संविधान के अठारहवें भाग में आपातकालीन प्रावधानों को शामिल किया गया। अनेक सदस्यों ने आशंका व्यक्त की कि यदि इन शक्तियों पर पर्याप्त नियंत्रण न रहा तो भविष्य में उनका दुरूपयोग लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिये चुनौती बन सकता है। उस समय यह विश्वास व्यक्ति किया गया कि लोकतांत्रिक संस्थाएं एवं संवैधानिक मर्यादाएं ऐसी किसी भी चुनौती एवं दुरूपयोग को रोकने में सक्षम होंगी। किंतु 25 जून 1975 को घोषित राष्ट्रीय आपातकाल ने इन आशंकाओं को वास्तविकता के धरातल पर ला दिया और जिन लोकतांत्रिक संस्थाओं एवं संवैधानिक मर्यादाओं द्वारा आपातकालीन शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने का विश्वास किया गया था, वे स्वयं अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करती दिखीं। लगभग इक्कीस महीने चले इस आपातकाल में शासन और नागरिकों के संबंध की प्रकृति में उल्लेखनीय परिवर्तन परीलक्षित हुए। अनेकानेक राजनीतिक नेताओं, पत्रकारों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और छात्रों को बिना सामान्य न्यायिक प्रक्रिया के जेलों में निरूद्ध कर दिया गया। समाचार माध्यमों पर नियंत्रण स्थापित किया गया और मौलिक अधिकारों के न्यायिक प्रवर्तन पर प्रभावी रोक लगाई गई। परिणामस्वरूप यह प्रश्न केवल राजनीतिक का नहीं रहा कि घोषित 'आपातकाल' उचित था या अनुचित, वरन् यह एक गहन संवैधानिक प्रश्न बन गया कि क्या लोकतांत्रिक संविधान के भीतर भी नागरिक स्वतंत्रताओं को इस सीमा तक सीमित किया जा सकता है। यही कारण है कि सन् 1975–1977 ईस्वी का आपातकाल भारतीय संवैधानिक इतिहास का सबसे अधिक अध्ययन किया जाने वाला विषय बन गया। इस अवधि में न केवल कार्यपालिका की शक्तियों की सीमाओं को उजागर किया बल्कि न्याय–पालिका, संसद, प्रेस और नागरिक समाज की भूमिका पर भी गंभीर विमर्श को जन्म दिया। बाद के वर्षों में 44वें संविधान संशोधन तथा सर्वोच्च न्यायालय के अनेक निर्णयों ने इस अनुभव से प्राप्त सीख को संवैधानिक सुधारों का आधार बनाया।

प्रस्तुत शोध इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में आपातकाल की अवधि में मौलिक अधिकारों के निलंबन का अध्ययन करता है। इसका उद्देश्य किसी राजनीतिक पक्ष का समर्थन या विरोध करना नही है, बल्कि संविधान के मूल सिद्धांतों के आलोक में उस ऐतिहासिक अवधि का निष्पक्ष और आलोचनात्मक विश्लेषण करना है। अध्ययन यह समझने का प्रयास करता है कि राष्ट्रीय आपातकाल (1975–1977) का अनुभव वर्तमान भारत में लोकतंत्र, विधि के शासन और नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए क्या संदेश देता है।

शोध विस्तार :–

भारतीय लोकतंत्र का विकास निरंतर परिवर्तन और संघर्ष की प्रक्रिया का परिणाम है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत के प्रारम्भिक वर्षों में लोकतांत्रिक संस्थाएं अपेक्षाकृत स्थिर रहीं किन्तु 1970 का दशक आते आते आर्थिक कठिनाइयों और राजनीतिक असंतोष ने शासन व्यवस्था के लिये नवीन चुनौतियां खड़ी कर दीं। सन् 1971 ईस्वी के आम चुनावों में 'श्रीमती इंदिरा गांधी' के नेतृत्व में कांग्रेस को भारी जन समर्थन प्राप्त हुआ।[1] 'गरीबी हटाओ' का नारा और 'बांग्लादेश मुक्ति संग्राम' में भारत की सफलता ने इंदिरा गांधी की लोकप्रियता को नई ऊंचाइयों तक पहुँचा दिया, जिससे सत्ता पर उनकी पकड़ अधिक मजबूत हो गई।[2] किन्तु यह राजनीतिक स्थिरता स्थायी नहीं थी। 1973 ईस्वी के वैश्विक ईंधन संकट (तेल संकट) का दुष्प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा।[3] इससे महंगाई तेजी से बढ़ी, बेरोजगारी में वृद्धि हुई और आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धता भी प्रभावित हुई। आर्थिक कठिनाइयों के कारण जन मानस में आक्रोश बढ़ने लगा। श्रमिक संगठनों की हड़तालें, छात्रों के आंदोलन तथा विभिन्न राज्यों में उभरते जन आंदोलनों ने इंदिरा गांधी सरकार के समक्ष गंभीर राजनीतिक चुनौती उत्पन्न कर दी। इसी समय गुजरात का 'नवनिर्माण आंदोलन' और विहार का 'छात्र आंदोलन' राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का केन्द्र बनें। बिहार में आंदोलन करने वाले जयप्रकाश नारायण

ने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का आह्वान करते हुये केवल सत्ता परिवर्तन नहीं, बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था में व्यापक सुधार की आवश्यकता पर बल दिया।[4] वहीं गुजरात के मुख्यतः छात्रों के नवनिर्माण आंदोलन को गांधीवादी नेता 'मोरार जी देसाई' का समर्थन मिला। मोरार जी देसाई ने 11 मार्च 1975 से भूख हड़ताल कर दी। दबाव में आकर श्रीमती इंदिरा गांधी ने 16 मार्च 1975 को गुजरात विधान सभा भंग कर दी और 6 महीनों बाद सितम्बर में नये चुनाव कराने की घोषणा कर दी।[5] किन्तु जब देसाई पुनः अनशन पर बैठे तो इंदिरा सरकार ने चुनाव जून में कराने का निर्णय लिया। जून 1975 में हुए गुजरात विधान सभा चुनावों में मोरार जी देसाई और जय प्रकाश नारायण के नेतृतव में असंतुष्ट दलों के एक कमजोर गठबंधन ने सत्ताधारी कांग्रेस को बारह सीटों से हटा दिया।[6] इंदिरा गांधी के लिये यह राजनीतिक संकट तब और गहरा हो गया जब 12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायधीश 'जगमोहन लाल सिन्हा' ने रायबरेली लोकसभा निर्वाचन से संबंधित मामले में श्रीमती गांधी के चुनाव को न सिर्फ निरस्त कर दिया बल्कि उनके किसी सरकारी पद पर कार्य करने से छः वर्ष के लिए रोक दिया।[7] विपक्ष ने प्रधानमंत्री के इस्तीफे की मांग की जबकि सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय की शरण ली। 24 जून 1975 को नयायमूर्ति 'वी0 आर0 कृष्ण अय्यर' ने अंतरिम राहत देते हुए इंदिरा गांधी को प्रधान मंत्री के पद पर बने रहने की अनुमति दी, परन्तु उनके संसदीय अधिकारों पर कुछ सीमाएं लगा दीं (वोट नहीं दे सकती थीं)।[8] यह परिस्थिति श्रीमती गांधी के लिये अपमानजनक थी। किसी अन्य खतरे से बचने के लिये उन्होंने तानाशाही शासन अपनाने का निर्णय लिया। 25 जून 1975 को रात्रि के 11:45 बजे राष्ट्रपति 'फखरूद्दीन अली अहमद' ने मंत्रिपरिषद की सलाह पर संविधान के 'अनुच्छेद 352' के अन्तर्गत राष्ट्रीय आपातकाल लागू किये जाने की घोषणा पर हस्ताक्षर किये।[9] यहीं से भारतीय लोकतंत्र का वह अध्याय प्रारंभ हुआ जिसने आने वाले वर्षों में संविधान, न्यायपालिका और नागरिक अधिकारों से जुड़े विमर्श को स्थायी रूप से प्रभावित किया। लगभग 21 महीनों तक चले इस राष्ट्रीय आपातकाल ने यह प्रश्न खड़ा किया कि राष्ट्रीय सुरक्षा और नागरिक स्वतंत्रता के बीच संतुलन किस प्रकार बनाए रखा जाये।

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने यह स्वीकार किया था कि किसी भी लोकतांत्रिक राष्ट्र को समय–समय पर ऐसी असाधारण परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है, जिनमें सामान्य संवैधानिक व्यवस्था अपर्याप्त सिद्ध हो जायें। निश्चय ही युद्ध, वाह्य आक्रमण अथवा गंभीर आंतरिक संकट जैसी स्थितियों में यदि सरकार के पास आवश्यक संवैधानिक शक्तियां न हों तो राष्ट्र की सुरक्षा और संवैधानिक व्यवस्था दोनों संकट में पड़ सकती हैं। इसी विचार को ध्यान में रखते हुये 'संविधान के भाग–अट्ठारह' (अनुच्छेद 352 से 360) में आपातकालीन उपबंधों को स्थान दिया गया।[10] संविधान सभा में इन प्रावधानों पर लंबी और गंभीर चर्चा हुई थी। कई सदस्यों ने आशंका व्यक्त की थी कि यदि कार्यपालिका को इतनी व्यापक शक्तियां दी जाएंगी तो उनके दुरूपयोग द्वारा लोकतांत्रिक वयवस्था को क्षति पहुंचाई जा सकती है। किन्तु संविधान के प्रमुख वास्तुकार डॉ0 भीमराव अंबेडकर का मत था कि ये प्रावधान सामान्य शासन के लिये नहीं, बल्कि केवल असाधारण परिस्थितियों के लिये हैं। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि लोकतांत्रिक संस्थाएं और जनता की राजनीतिक चेतना किसी भी संभावित दुरूपयोग पर प्रभावी नियंत्रण रखेंगी। हालांकि इतिहास ने इस विश्वास की अत्यन्त कठिन परीक्षा ली।

'संविधान के भाग–अठारह' के आपातकालीन प्रावधानों में मुख्यतः अनुच्छेद 352, 358 और 359 महत्वपूर्ण हैं। अनुच्छेद 352 भारतीय संविधान का वह प्रावधान है जिसके अन्तर्गत राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा कर सकते हैं।[11] 25 जून 1975 को लागू किया गया आपातकाल एक प्रकार से आपातकाल के भीतर आपातकाल था क्योंकि 1971 के भारत–पाकिस्तान युद्ध के कारण पहले से एक आपातकाल लागू था। एक अगस्त 1975 को किये गये 38वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 352 में एक नया खण्ड (9) जोड़ा गया जिसमें यह व्यवस्था की गई कि युद्ध, वाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशांति जैसे भिन्न–भिन्न आधारों पर पृथक–पृथक आपातकाल की उद्घोषणायें की जा सकती हैं, चाहे उन आधार में से किसी एक पर पहले से ही आपातकाल प्रभावी क्यों न हो।[12] संशोधन का यही 'आंतरिक अशांति' शब्द सबसे अधिक विवादास्पद सिद्ध हुआ। इसकी कोई स्पष्ट संवैधानिक परिभाषा नहीं थी, जिस कारण इसकी व्याख्या परिस्थितियों और सरकार के आकलन पर निर्भर हो गई। किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार की आलोचना, जन आंदोलन और राजनीतिक विरोध सामान्य लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का हिस्सा होते हैं। यदि इन्हें राष्ट्रीय संकट के रूप में परिभाषित किया जाने लगे तो निश्चय ही लोकतंत्र की मूल भावना प्रभावित हो सकती है।

राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा के साथ ही अनुच्छेद 358 प्रभावी हो जाता है। इसके अनुसार 'अनुच्छेद–19' में निहित कोई भी प्रावधान राज्य (जिसमें संघ तथा राज्य की सरकारें और विधानमंडल दोनों सम्मिलित हैं) को ऐसा को ऐसा कोई कानून बनाने या कार्यपालिका के माध्यम से ऐसी कोई कार्यवाही करने से नहीं रोक सकता, जिसे वह सामान्य परिस्थितियों में, केवल भाग–तीन (मौलिक अधिकारों) के प्रावधानों के कारण नहीं कर सकता था। हालांकि इस प्रकार से निर्मित कानून केवल आपातकाल की अवधि तक ही वैध था और आपातकाल की उद्घोषणा समाप्त होते ही स्वतः अप्रभावी हो जाएगा।[13] किंतु सन् 1975–1977 ईस्वी के अनुभव ने यह दिखाया कि जब इन आपातकालीन शक्तियों पर पर्याप्त संस्थागत नियंत्रण न हो तो अस्थायी प्रतिबंध भी नागरिक स्वतंत्रताओं को पर्याप्त रूप से प्रभावित कर सकते हैं।

यदि अनुच्छेद 358 मुख्यतः अनुच्छेद–19 को प्रभावित करता था, तो अनुच्छेद 359 का प्रभाव और भी व्यापक था। मूल अनुच्छेद 359 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त था कि 'संविधान के भाग–तीन' में निहित मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन हेतु किसी भी न्यायालय में जाने के अधिकार को निलंबित कर सकते थे।[14] सिद्धान्ततः देखा जाए तो मौलिक अधिकारों को समाप्त नहीं किया गया था परन्तु व्यवहार में देखने पर स्पष्ट होता है कि न्यायालय जाने के अधिकार का निलंबित होने से मौलिक अधिकार केवल कागजी अधिकार ही रह गये।

सन् 1975–1977 के राष्ट्रीय आपातकाल के दौरान अनुच्छेद 352, 358 और 359 का संयुक्त प्रभाव भारतीय लोकतंत्र पर स्पष्ट रूप से दिखाई दिया। कार्यपालिका अभूतपूर्व रूप से सशक्त हो गई जबकि नागरिकों की संवैधानिक सुरक्षा अपेक्षाकृत कमजोर पड़ गई। इसके साथ ही संसद का प्रभाव भी सीमित हुआ और न्यायपालिका पर भी अप्रत्यक्ष दबाव पड़ा। अब प्रशासनिक तंत्र पूर्व की तुलना में अधिक केन्द्रीकृत हो गया। संवैधानिक दृष्टि से आपातकाल की वैधता गंभीर प्रश्न नहीं था बल्कि यह था कि घोषित होने के बाद राज्य की शक्तियों पर प्रभावी नियंत्रण किस सीमा तक बना रहा। दरअसल लोकतांत्रिक संविधान केवल अधिकार प्रदत्त नहीं करता बल्कि वह सत्ता के प्रयोग पर सीमाएं भी निर्धारित करता है। जब यह संतुलन शीथिल पड़ता है, तब संवैधानिक शासन की मूल भावना प्रभावित होने लगती है। सन् 1975 का अनुभव इसी कारणवश आज भी प्रासंगिक है। इसने स्पष्ट किया कि किसी भी लोकतंत्र में असाधारण शक्तियों का अस्तित्व आवश्यक हो सकता है, किन्तु उनका प्रयोग कठोर संवैधानिक उत्तरदायित्व, न्यायिक समीक्षा और संसदीय नियंत्रण के अधीन होना चाहिए।

जहां तक आपातकाल की अवधि (1975–1977) में मौलिक अधिकारों के निलंबन का प्रश्न है तो भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों को केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता का साधन नहीं माना गया है, बल्कि उन्हें लोकतांत्रिक शासन की आधार शिला के रूप में स्वीकार किया गया है। 'संविधान के भाग–तीन' में वर्णित ये अधिकार नागरिकों को राज्य की मनमानी से सुरक्षा प्रदान करते हैं तथा शासन की शक्तियों पर संवैधानिक अंकुश की तरह कार्य करते हैं। किन्तु 1975 के राष्ट्रीय आपातकाल में यही संवैधानिक संतुलन सर्वाधिक प्रभावित हुआ। आपातकाल के लागू होते ही सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा और सार्वजनिक व्यवस्था को सर्वाधिक प्राथमिकता देते हुए अनेक ऐसे कदम उठाए, जिनका सीधा प्रभाव नागरिक स्वतंत्रताओं पर पड़ा। संविधान के अनुच्छेद–358 और 359 के अन्तर्गत प्रदत्त संवैधानिक शक्तियों का उपयोग करते हुए सरकार ने कुछ मौलिक अधिकारों के प्रभावी उपयोग और उनके न्यायिक प्रवर्तन को सीमित कर दिया। लोकतांत्रिक व्यवस्था में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लोकतंत्र का प्राणतत्व माना जाता है। यह सिर्फ व्यक्ति को विचार व्यक्त करने का अधिकार नहीं देती, बल्कि उत्तरदायी सरकार का माध्यम भी बनती है। इस अधिकार की स्वभाविक अभिव्यक्तियों (स्वतंत्र पत्रकारिता, सार्वजनिक विमर्श और सत्ता की आलोचना) पर आपातकाल लागू होने के तुरंत बाद प्रतिबंध लागू कर दिये गये। आपातकाल का सबसे गंभीर प्रभाव व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर पड़ा। इस अवधि में बड़ी संख्या में राजनीतिक नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, छात्र नेताओं और श्रमिक संगठनों से जुड़े व्यक्तियों को 'आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम (मीसा)–1971' के अन्तर्गत हिरासत में ले लिया गया।[15] उल्लेखनीय है कि 'निवारक निरोध' की अवधारणा सामान्य आपराधिक न्याय प्रणाली से भिन्न होती है। सामान्यतः किसी व्यक्ति को अपराध सिद्ध होने के बाद दंडित किया जाता है जबकि निवारक निरोध संभावित खतरे की आशंका के आधार पर स्वतंत्रता को सीमित करने की अनुमति देता है। आपातकाल की अवधि में 'मीसा' का व्यापक उपयोग राजनीतिक विरोध रोकने में किया गया।

भारतीय संविधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह केवल संवैधानिक अधिकार ही प्रदान नहीं करता बल्कि उनके संरक्षण की भी व्यवस्था करता है। अनुच्छेद–32 और अनुच्छेद–226 नागरिकों को सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के समक्ष अपने अधिकारों की रक्षा हेतु जाने का अधिकार प्रदान करते हैं।

आपातकाल में यह व्यवस्था गंभीर रूप से प्रभावित हुई। 'बंदी प्रत्यक्षीकरण' करीब–करीब असंभव हो गया। परिणामतः यदि किसी व्यक्ति को अवैध रूप से हिरासत में रखा गया हो तब भी उसके लिये शीघ्र न्यायिक राहत प्रदान करना अत्यन्त कठिन था।[16] आपातकाल का प्रभाव केवल व्यक्तिगत अधिकारों तक सीमित नहीं रहा। इस अवधि में शासन व्यवस्था का स्वरूप अत्यन्त केन्द्रीकृत हो गया। संसद की भूमिका इसमें अपेक्षाकृत सीमित दिखाई दी, विपक्ष राजनीतिक रूप से कमजोर हुआ और प्रशासनिक तंत्र पहले की तुलना में अधिक शक्तिशाली बन गया। इससे लोकतंत्र की वह मूल अवधारणा प्रभावित हुई जिसमें सत्ता के विभिन्न अंग एक दूसरे पर नियंत्रण और संतुलन बनाए रखते हैं।

यदि संवैधानिक दृष्टि से इस पूरे घटनाक्रम (आपातकाल में मूल अधिकारों का निलंबन) का मूल्यांकन किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि 1975–1977 का अनुभव भारतीय लोकतंत्र के लिये एक महत्वपूर्ण चेतावनी था। इसने यह प्रश्न स्थायी रूप से स्थापित कर दिया कि असाधारण शक्तियों का प्रयोग भी संवैधानिक नैतिकता, न्यायिक उत्तरदायित्व और लोकतांत्रिक मूल्यों की कसौटी पर परखा जाना चाहिए। यही कारण है कि आपातकाल समाप्त हो जाने के उपरान्त भारतीय लोकतंत्र ने केवल राजनीतिक परिवर्तन नहीं देखा, बल्कि संवैधानिक आत्ममंथन की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई जिसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम 44वां संविधान संशोधन था। इस संशोधन ने भविष्य में नागरिक स्वतंत्रताओं की सुरक्षा को अधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया।

सन् 1975–1977 ईस्वी का आपातकाल भारतीय न्यायपालिका की सबसे बड़ी परीक्षा की अवधि भी था। इस दौरान हजारों लोगों को बिना नियमित अपराधिक मुकदमें 'मीसा' के अन्तर्गत हिरासत में रखा गया। 'मीसा' में की कई गिरफ्तारियों के विरूद्ध अनेक 'बंदी प्रत्यक्षीकरण' याचिकाएं दायर की गईं। कई उच्च न्यायालयों ने ऐसी मनमानी गिरफ्तारियों का अवैध माना। केन्द्र ने इन निर्णयों को सर्वाच्च न्यायालय में चुनौती दी, जहाँ से भारतीय संवैधानिक इतिहास के सबसे चर्चित मामलों में से एक, ए0डी0एम0 जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला (1976) सामने आया। इस वाद का मुख्य प्रश्न यह था कि यदि राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 359 के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन को स्थगित कर दिया हो, तो क्या कोई नागरिक अपनी अवैध हिरासत को चुनौती दे सकता है? सर्वोच्च न्यायालय की पांच सदस्यीय पीठ ने चार–एक के बहुमत से सरकार के पक्ष में निर्णय दिया। बहुमत ने माना कि राष्ट्रपति के आदेश के प्रभावी रहते हुए नागरिक बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका दायर नहीं कर सकते। इस निर्णय का तत्काल प्रभाव यह हुआ कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का न्यायिक संरक्षण अत्यन्त सीमित हो गया।[17] हालांकि यह निर्णय तत्कालीन संवैधानिक व्यवस्था की व्याख्या पर आधारित था तथापि इसकी व्यापक आलोचना हुई। लोकतांत्रिक शासन में न्यायपालिका से यह अपेक्षा रहती है कि वह संकट के समय भी नागरिक अधिकारों की रक्षा करें इसलिये ए0डी0एम0 जबलपुर का निर्णय भारतीय न्यायिक इतिहास का एक विवादास्पद अध्याय माना जाता है। 'ए0डी0एम0 जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला' मामले का सबसे उल्लेखनीय पक्ष न्यायमूर्ति 'एच0आर0 खन्ना' की अन्यों से असहमति थी। उनका मानना था कि यदि किसी नागरिक को अवैध रूप से हिरासत में रखा गया है, तो न्यायालय का यह दायित्व है कि वह उसकी स्वतंत्रता की रक्षा करें। न्यायमूर्ति खन्ना ने यह भी स्पष्ट किया कि संविधान का उद्देश्य राज्य को निरंकुश शक्ति प्रदान करना नहीं, बल्कि सत्ता के प्रयोग को विधि सम्मत रखना है। हालांकि उनका यह मत तत्कालीन बहुमत का हिस्सा नहीं बन सका, किंतु समय के साथ वही संवैधानिक न्यायशास्त्र की नैतिक दिशा बन गया। आज न्यायमूर्ति का वह अल्पसंख्यक मत केवल एक असहमति मत नहीं माना जाता बल्कि उसे न्यायिक स्वतंत्रता, संवैधानिक नैतिकता और मानव अधिकारों के प्रति न्यायपालिका की प्रतिबद्धता का सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है।

सन् 1977 ईस्वी में आपातकाल समाप्त होने और नई सरकार के गठन के बाद यह व्यापक रूप से महसूस किया गया कि संविधान के आपातकालीन प्रावधानों में कुछ ऐसे परिवर्तन आवश्यक हैं, जिनमें भविष्य में उनके दुरूपयोग की संभावना कम हो इसी सोच की परिणति 44वां संविधान संशोधन अधिनियम–1978 के रूप में हुई।[18] इसमें आपातकालीन व्यवस्था में कई परिवर्तन सुझाए गये। सबसे पहले तो अनुच्छेद–352 में प्रयुक्त 'आंतरिक अशांति' शब्द को हटाकर 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द जोड़ा गया। दूसरा महत्वपूर्ण सुधार यह था कि राष्ट्रपति अब केवल मंत्रिपरिषद की लिखित सलाह पर ही राष्ट्रीय आपातकाल घोषित कर सकते थे। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन अनुच्छेद–20 और 21 से संबंधित था। संशोधन के बाद यह सुनिश्चित किया गया कि जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता सें जुड़े अधिकारों के प्रवर्तन को आपातकाल के दौरान भी पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता। यह परिवर्तन सीधा–सीधा 1975–1977 के अनुभवों से प्रेरित था और नागरिक स्वतंत्रताओं की संवैधानिक सुरक्षा को सुदृढ़ बनाने की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम सिद्ध हुआ।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सन् 1975–1977 ईस्वी का राष्ट्रीय आपातकाल भारतीय लोकतंत्र के इतिहास का एक अत्यन्त निर्णायक मोड़ था। इसने यह सिद्ध किया कि संविधान में निहित आपातकालीन प्रावधान राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये आवश्यक हो सकते हैं किन्तु उनका प्रयोग लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व, न्यायिक समीक्षा और संवैधानिक मर्यादा के अधीन होना चाहिए। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात हुआ कि मौलिक अधिकार केवल संवैधानिक घोषणाएं नहीं हैं बल्कि लोकतांत्रिक समाज के जीवंत आधार हैं। इनके न्यायिक संरक्षण के सीमित हो जाने पर लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति भी क्षीण हो जाती है; आपातकाल का अनुभव इस सत्य को स्पष्ट रूप से सामने लाता है। 'ए0डी0एम0 जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला' वाद का निर्णय और न्यायमूर्ति एच0आर0 खन्ना का असहमति मत भारतीय नयायिक इतिहास के दो भिन्न दृष्टिकोणों के प्रतिनिधि हैं। समय ने यह सिद्ध किया कि नागरिक स्वतंत्रताओं को रक्षा करने वाला दृष्टिकोण ही संविधान की मूल भावना के अधिक निकट था। 44वें संविधान संशोधन तथा बाद के न्यायिक निर्णयों ने इसी विचार को संवैधानिकता प्रदान की।

अन्ततः कहा जा सकता है कि किसी भी जीवित लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति उसकी सरकार की क्षमता में नहीं बल्कि उसके संविधान की विश्वसनीयता, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, संसद की सक्रियता, स्वतंत्र प्रिंट एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया तथा जागरूक नागरिक समाज में निहित होती है। सन् 1975–1977 का राष्ट्रीय आपातकाल भारतीय लोकतंत्र के लिये एक ऐतिहासिक घटना मात्र नहीं है वरन् यह एक स्थायी संवैधानिक चेतावनी है, जो यह सिखाती है कि असाधारण परिस्थितियों में भी नागरिक अधिकारों की रक्षा लोकतांत्रिक शासन का मूल दायित्व बनी रहनी चाहिए।

संदर्भ सूची

1. बंद्योपाध्याय, शेखर, प्लासी से विभाजन तक और उसके बाद, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, 2019, पृ0 510
2. तदैव, पृ0 510
3. चन्द्रा, विपिन, इन दी नेम ऑफ डेमोक्रेसीःजे0पी0 मूवमेंट एण्ड द इमरजेंसी, पेंगुइन बुक्स, गुड़गांव, 2003,पृ0 17
4. एवरीमैन्स, 22 जून 1974, पृ0 1
5. चन्द्रा विपिन, इन दी नेम ऑफ डेमोक्रेसीःजेपी मूवमेंट एण्ड द इमरजेंसी, पेंगुइन बुक्स, गुड़गांव, 2003, पृ0 36
6. पार्क, आर0एल0, पॉलिटिकल क्राइसिस इन इंडिया 1975, एशियन सर्वे 15(11), 1975, पृ0 1008
7. बंद्योपाध्याय, शेखर, प्लासी से विभाजन तक और उसके बाद, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, 2019, पृ0 510
8. तदैव, पृ0 510–511
9. नैयर, कुलदीप, द जजमेंट : इनसाइड स्टोरी ऑफ दी इमरजेंसी इन इंडिया, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0लि0, नई दिल्ली, 1977, पृ0 39
10. चौबे, शिबानी किंकर, द मेकिंग एण्ड वर्किंग ऑफ दी इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2010, पृ0 243
11. तदैव, पृ0 243
12. काश्यप, सुभाष, भारत का सांविधानिक विकास और संविधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ0 371
13. चौबे, शिवानी किंकर, द मेकिंग एण्ड वर्किंग ऑफ दी इंडियन कॉन्सस्ट्यूशन, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2010, पृ0 246–247
14. तदैव, पृ0 247
15. चन्द्रा, विपिन, इन द नेम ऑफ डेमोक्रेसीःजेपी मूवमेन्ट एण्ड दी इमरजेंसी, पेंगुइन बुक्स, गुड़गांव, 2003, पृ0 157
16. तदैव, पृ0 162
17. चौबे, शिवानी किंकर, द मेकिंग एण्ड वर्किंग ऑफ दी इंडियनल कॉन्स्टिट्यूशन, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2010, पृ0 210
18. काश्यप, सुभाष, भारत का सांविधानिक विकास और संविधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ0 375–376

राष्ट्रवाद : अवधारणा, विकास एवं समकालीन परिप्रेक्ष्य का एक अध्ययन

अखिलेश कुमार*
अवध नारायण**

सार (Abstract)

राष्ट्रवाद आधुनिक विश्व की सबसे प्रभावशाली राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधाराओं में से एक है। इसने न केवल आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, बल्कि उपनिवेशवाद के विरुद्ध स्वतंत्रता आंदोलनों को भी वैचारिक आधार प्रदान किया। भारत के संदर्भ में राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक स्वतंत्रता का आंदोलन नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण, सामाजिक सुधार, आर्थिक स्वावलंबन तथा राष्ट्रीय एकता का व्यापक अभियान भी था। प्रस्तुत शोध-पत्र में राष्ट्रवाद की अवधारणा, उसके ऐतिहासिक विकास, प्रमुख सिद्धांतों, भारतीय राष्ट्रवाद की विशेषताओं तथा समकालीन चुनौतियों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रवाद एक गतिशील अवधारणा है, जिसकी सफलता लोकतांत्रिक मूल्यों, सामाजिक न्याय, बहुलतावाद तथा संवैधानिक आदर्शों के साथ संतुलन बनाए रखने पर निर्भर करती है।

मुख्य शब्द: राष्ट्र, राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय चेतना, भारतीय राष्ट्रवाद, लोकतंत्र, वैश्वीकरण।

प्रस्तावना

मानव इतिहास में राष्ट्रवाद ने समाज और राजनीति की दिशा बदलने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में विकसित राष्ट्रवादी विचारधारा ने आधुनिक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा को जन्म दिया। फ्रांसीसी क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के आदर्शों को स्थापित करते हुए राष्ट्रीय संप्रभुता का सिद्धांत प्रस्तुत किया, जिसने आगे चलकर विश्वभर में राष्ट्रीय आंदोलनों को प्रेरित किया।

भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद का विकास विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ। यह केवल विदेशी शासन से मुक्ति का आंदोलन नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण, सामाजिक सुधार, आर्थिक स्वदेशीकरण तथा राष्ट्रीय एकीकरण का भी आंदोलन था। भारतीय राष्ट्रवाद ने विविध धर्मों, भाषाओं, जातियों और संस्कृतियों को एक साझा राष्ट्रीय पहचान के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इसी कारण भारतीय राष्ट्रवाद की प्रकृति समावेशी, लोकतांत्रिक तथा बहुलतावादी मानी जाती है।

वर्तमान समय में वैश्वीकरण, सूचना क्रांति, पहचान की राजनीति, क्षेत्रीयता तथा सांप्रदायिक तनाव जैसी परिस्थितियों ने राष्ट्रवाद की अवधारणा को नए विमर्शों के केंद्र में ला खड़ा किया है। इसलिए राष्ट्रवाद का अध्ययन केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि समकालीन संदर्भों में भी अत्यंत प्रासंगिक है।

राष्ट्रवाद आधुनिक राजनीतिक चिंतन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसका संबंध राष्ट्र के प्रति निष्ठा, सामूहिक पहचान तथा राष्ट्रीय हितों की रक्षा से है। सामान्यतः राष्ट्रवाद उस वैचारिक और भावनात्मक चेतना को कहा जाता है जिसके अंतर्गत किसी राष्ट्र के लोग स्वयं को साझा इतिहास, संस्कृति, भाषा, परंपरा, भौगोलिक एकता तथा राजनीतिक आकांक्षाओं से जुड़ा हुआ अनुभव करते हैं। राष्ट्रवाद केवल एक राजनीतिक विचारधारा नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों का भी समन्वित स्वरूप है।

* शोधार्थी, इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या
akhileshkumarmlk53@gmail.com, Mob. : 8840536766, 9889745173
** एसो. प्रोफेसर, इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या

'राष्ट्र' और 'राज्य' में अंतर को समझना आवश्यक है। राष्ट्र एक सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक समुदाय है, जबकि राज्य एक राजनीतिक संस्था है जिसके पास निश्चित भू-भाग, जनसंख्या, सरकार तथा संप्रभुता होती है। जब किसी राष्ट्र की राजनीतिक आकांक्षाएँ संगठित होकर स्वतंत्र राज्य की स्थापना की दिशा में अग्रसर होती हैं, तब राष्ट्रवाद एक शक्तिशाली राजनीतिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर लेता है।

राष्ट्रवाद के विकास में अनेक विद्वानों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बेनेडिक्ट एंडरसन ने राष्ट्र को "कल्पित समुदाय" (Imagined Community) कहा। उनके अनुसार राष्ट्र के अधिकांश सदस्य एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते, फिर भी वे स्वयं को एक साझा समुदाय का अंग मानते हैं। यह भावना शिक्षा, भाषा, मुद्रण, संचार तथा ऐतिहासिक स्मृतियों के माध्यम से निर्मित होती है।

अर्नेस्ट गेलनर के अनुसार राष्ट्रवाद औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं का परिणाम है। आधुनिक उद्योग, शिक्षा तथा प्रशासन के विकास ने समान भाषा, समान शिक्षा व्यवस्था और एकीकृत प्रशासनिक ढाँचे की आवश्यकता उत्पन्न की, जिससे राष्ट्रवाद को बल मिला।

एंथनी डी. स्मिथ ने राष्ट्रवाद को केवल आधुनिक घटना न मानकर उसके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आधारों पर बल दिया। उनके अनुसार किसी भी राष्ट्र की पहचान उसके ऐतिहासिक प्रतीकों, सामूहिक स्मृतियों, मिथकों तथा सांस्कृतिक विरासत से निर्मित होती है। इसी कारण प्रत्येक राष्ट्रवाद का स्वरूप उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न होता है।

राष्ट्रवाद को सामान्यतः दो प्रमुख रूपों में विभाजित किया जाता है—नागरिक (Civic) राष्ट्रवाद तथा सांस्कृतिक (Cultural/Ethnic) राष्ट्रवाद। नागरिक राष्ट्रवाद लोकतंत्र, समान नागरिकता, संविधान तथा विधि के शासन पर आधारित होता है। इसके विपरीत सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भाषा, धर्म, जातीयता अथवा सांस्कृतिक परंपराओं को राष्ट्रीय पहचान का प्रमुख आधार मानता है। आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में नागरिक राष्ट्रवाद को अधिक समावेशी माना जाता है।

भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप इन दोनों प्रवृत्तियों से भिन्न एवं अधिक व्यापक रहा है। भारत की बहुभाषिक, बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक संरचना ने ऐसे राष्ट्रवाद को जन्म दिया जिसमें विविधता में एकता, सहिष्णुता, लोकतंत्र तथा संवैधानिक मूल्यों को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा डॉ. भीमराव आंबेडकर ने राष्ट्रवाद को सामाजिक न्याय, मानवीय मूल्यों और लोकतांत्रिक आदर्शों से जोड़कर देखा।

इस प्रकार राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की अवधारणा नहीं है, बल्कि यह राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा लोकतांत्रिक सहभागिता का भी आधार है। समय, स्थान और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार इसकी अभिव्यक्ति बदलती रहती है, किंतु इसका मूल उद्देश्य राष्ट्रीय एकता, स्वाभिमान और सामूहिक विकास सुनिश्चित करना है।

राष्ट्रवाद का ऐतिहासिक विकास

राष्ट्रवाद का संगठित विकास अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप में प्रारंभ हुआ। फ्रांसीसी क्रांति (1789) ने राष्ट्रीय संप्रभुता, नागरिक अधिकारों और समानता की अवधारणाओं को स्थापित कर राष्ट्रवाद को नई दिशा प्रदान की। इसके पश्चात नेपोलियन के अभियानों ने यूरोप के अनेक क्षेत्रों में राष्ट्रीय चेतना का प्रसार किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में इटली और जर्मनी के एकीकरण ने राष्ट्रवाद को एक सशक्त राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित किया। इस काल में राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद और विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्षों को भी प्रेरित किया। एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में स्वतंत्रता आंदोलनों का प्रमुख वैचारिक आधार राष्ट्रवाद ही बना।

बीसवीं शताब्दी में प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवाद के पतन के साथ राष्ट्रवाद का नया स्वरूप सामने आया। भारत, इंडोनेशिया, वियतनाम, घाना तथा अनेक अफ्रीकी देशों ने राष्ट्रीय आंदोलनों के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त की। स्वतंत्रता के पश्चात राष्ट्रवाद का उद्देश्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं रहा, बल्कि

आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक संस्थाओं की मजबूती तथा राष्ट्रीय एकीकरण भी इसके महत्वपूर्ण उद्देश्य बन गए।

भारतीय राष्ट्रवाद का उद्भव एवं विकास

भारतीय राष्ट्रवाद का विकास यूरोपीय राष्ट्रवाद की भाँति केवल राजनीतिक सत्ता प्राप्ति का आंदोलन नहीं था, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक जागरण की एक दीर्घकालीन प्रक्रिया थी। भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा, आध्यात्मिक विरासत तथा विविधता में एकता की भावना ने राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का संगठित स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुआ, किंतु इसकी ऐतिहासिक जड़ें भारतीय सभ्यता की दीर्घ परंपरा में निहित थीं।

ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक नीतियों ने भारतीय समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन किए। एक ओर अंग्रेजों ने आधुनिक शिक्षा, रेल, डाक, तार, मुद्रण तथा प्रशासनिक व्यवस्था का विकास किया, वहीं दूसरी ओर उनकी आर्थिक नीतियों ने भारतीय उद्योगों को क्षति पहुँचाई, कृषि संकट को बढ़ाया तथा देश की आर्थिक संपदा का निरंतर दोहन किया। इन परिस्थितियों ने भारतीयों में असंतोष तथा राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण

उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भारतीय राष्ट्रवाद की वैचारिक नींव तैयार की। राजा राममोहन राय ने सामाजिक कुरीतियों का विरोध करते हुए आधुनिक शिक्षा तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने वैदिक परंपरा के पुनर्जागरण तथा स्वाभिमान का संदेश दिया। स्वामी विवेकानंद ने भारतीय संस्कृति की महानता का विश्व स्तर पर परिचय कराया और युवाओं में आत्मविश्वास का संचार किया। इन आंदोलनों ने भारतीय समाज को आत्मगौरव की भावना प्रदान की, जो आगे चलकर राष्ट्रवाद का महत्वपूर्ण आधार बनी।

1857 का विद्रोह और राष्ट्रीय चेतना

1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास की एक निर्णायक घटना थी। यद्यपि इसके स्वरूप को लेकर इतिहासकारों में मतभेद हैं, फिर भी यह निर्विवाद है कि इसने विदेशी शासन के विरुद्ध व्यापक असंतोष को व्यक्त किया। सैनिकों, किसानों, जमींदारों तथा अनेक रियासतों की भागीदारी ने यह स्पष्ट किया कि भारतीय समाज के विभिन्न वर्ग अंग्रेजी शासन से असंतुष्ट थे। इस संघर्ष ने राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रारंभिक स्वरूप प्रदान किया और भविष्य के स्वतंत्रता आंदोलन के लिए प्रेरणा का कार्य किया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और प्रारंभिक राष्ट्रवाद

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर सिद्ध हुई। प्रारंभिक नेताओं—दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी—ने संवैधानिक सुधारों, प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाई। दादाभाई नौरोजी का "धन-निकासी सिद्धांत" (Drain Theory) औपनिवेशिक आर्थिक शोषण का प्रभावी विश्लेषण था, जिसने भारतीयों में राजनीतिक चेतना को मजबूत किया।

उग्र राष्ट्रवाद और स्वदेशी आंदोलन

1905 में बंगाल विभाजन के विरोध ने भारतीय राष्ट्रवाद को नई दिशा प्रदान की। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय तथा बिपिन चंद्र पाल के नेतृत्व में स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे कार्यक्रमों ने जनता की व्यापक भागीदारी सुनिश्चित की। तिलक का प्रसिद्ध उद्घोष—"स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है"—भारतीय राष्ट्रवाद का प्रेरक सूत्र बन गया। इस चरण में राष्ट्रवाद जनसामान्य तक पहुँचा और स्वतंत्रता की मांग अधिक स्पष्ट एवं व्यापक हो गई।

गांधी युग और जन-आधारित राष्ट्रवाद

महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद को व्यापक जनाधार प्राप्त हुआ। सत्याग्रह, अहिंसा तथा जनसहभागिता के माध्यम से उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन को गाँव-गाँव तक पहुँचाया। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन ने किसानों, मजदूरों, महिलाओं, विद्यार्थियों तथा मध्यम वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा। गांधीजी ने राष्ट्रवाद को नैतिकता, सामाजिक समरसता, स्वदेशी, ग्राम स्वराज तथा सर्वधर्म समभाव से जोड़ते हुए उसे व्यापक मानवीय आधार प्रदान किया।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। भगत सिंह, चंद्रशेखर आज़ाद, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्ला खाँ तथा अनेक क्रांतिकारियों ने अपने अद्वितीय साहस और बलिदान से युवाओं में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया। उनका उद्देश्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही नहीं, बल्कि सामाजिक समानता तथा शोषण-मुक्त समाज की स्थापना भी था।

सुभाषचंद्र बोस और आज़ाद हिन्द फ़ौज

भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में नेताजी सुभाषचंद्र बोस का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने "तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूँगा" का आह्वान करते हुए राष्ट्रीय संघर्ष को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नई दिशा दी। आज़ाद हिन्द फ़ौज के माध्यम से उन्होंने सशस्त्र संघर्ष का मार्ग अपनाया और भारतीय सैनिकों में स्वतंत्रता के लिए बलिदान की भावना को प्रबल किया। उनके प्रयासों ने ब्रिटिश शासन की वैधता को गहरी चुनौती दी तथा भारतीय सेना के भीतर भी राष्ट्रीय चेतना को सुदृढ़ किया।

भारतीय राष्ट्रवाद की प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय राष्ट्रवाद की सबसे बड़ी विशेषता उसकी समावेशी प्रकृति है। यह किसी एक धर्म, भाषा, जाति अथवा क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने विविधताओं को स्वीकार करते हुए राष्ट्रीय एकता का निर्माण किया। भारतीय राष्ट्रवाद लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय, समानता, सहिष्णुता तथा संवैधानिक मूल्यों पर आधारित रहा। यही कारण है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को अपनाया और विविधताओं के बावजूद राष्ट्रीय एकता को बनाए रखा।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद का विकास एक बहुआयामी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी, जिसमें सामाजिक सुधार, सांस्कृतिक पुनर्जागरण, आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष, राजनीतिक संगठन, जनआंदोलन तथा क्रांतिकारी प्रयासों—सभी ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। यही समन्वित स्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद को विश्व के अन्य राष्ट्रवादी आंदोलनों से विशिष्ट बनाता है।

निष्कर्ष

राष्ट्रवाद आधुनिक युग की एक ऐसी गतिशील एवं बहुआयामी अवधारणा है, जिसने विश्व के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को गहराई से प्रभावित किया है। यह केवल किसी राष्ट्र की राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक अस्मिता, सामाजिक समरसता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण का भी आधार है। विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद का स्वरूप उनकी ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप विकसित हुआ है।

भारतीय राष्ट्रवाद की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी समावेशी, बहुलतावादी एवं लोकतांत्रिक प्रकृति रही है। भारत जैसे बहुभाषी, बहुधार्मिक एवं बहुसांस्कृतिक देश में राष्ट्रवाद ने विविधताओं को स्वीकार करते हुए राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ किया। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक नेतृत्व, महात्मा गांधी के जनआंदोलनों, क्रांतिकारियों के बलिदान तथा नेताजी सुभाषचंद्र बोस और आज़ाद हिन्द फ़ौज के योगदान ने भारतीय राष्ट्रवाद को व्यापक और जनोन्मुख स्वरूप प्रदान किया।

समकालीन समय में वैश्वीकरण, डिजिटल संचार, क्षेत्रीय अस्मिताओं, पहचान की राजनीति, सांप्रदायिक तनाव तथा आर्थिक असमानताओं जैसी चुनौतियों ने राष्ट्रवाद की नई व्याख्याओं को जन्म दिया है। ऐसी परिस्थितियों में आवश्यक है कि राष्ट्रवाद को संकीर्णता या बहिष्करण के बजाय संवैधानिक मूल्यों, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, मानवाधिकार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा राष्ट्रीय एकता के साथ जोड़ा जाए। यही दृष्टिकोण भारत की लोकतांत्रिक परंपरा और संविधान की मूल भावना के अनुरूप है।

अतः यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद एक जीवंत और निरंतर विकसित होने वाली अवधारणा है। यदि इसे समावेशिता, सहिष्णुता, समानता तथा राष्ट्रीय विकास के आदर्शों के साथ आगे बढ़ाया जाए, तो यह न केवल राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करेगा, बल्कि भारत को एक सशक्त, समृद्ध और लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में आगे ले जाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

I. Anderson, Benedict. Imagined Communities: Reflections on the Origin and Spread of Nationalism. Verso, London.
II. Gellner, Ernest. Nations and Nationalism. Blackwell Publishers.
III. Smith, Anthony D. National Identity. Penguin Books.
IV. Hobsbawm, Eric. Nations and Nationalism Since 1780. Cambridge University Press.
V. Chandra, Bipan. India's Struggle for Independence. Penguin Books.
VI. Chandra, Bipan. Nationalism and Colonialism in Modern India. Orient BlackSwan.
VII. Sarkar, Sumit. Modern India: 1885–1947. Macmillan.
VIII. Desai, A. R. Social Background of Indian Nationalism. Popular Prakashan.
IX. Majumdar, R. C. History of the Freedom Movement in India. Firma KLM.
X. Tara Chand. History of the Freedom Movement in India. Publications Division.
XI. Grover, B. L. एवं Grover, S. आधुनिक भारत का इतिहास. एस. चन्द एंड कम्पनी।
XII. शर्मा, रामविलास. भारतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद. राजकमल प्रकाशन।
XIII. सिंह, अयोध्या. भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास. हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय।
XIV. भारत का संविधान। भारत सरकार, विधि एवं न्याय मंत्रालय।
XV. विभिन्न शोध-पत्र एवं यूजीसी-केयर सूचीबद्ध शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित राष्ट्रवाद संबंधी लेख।

प्राचीन एवं वर्तमान भारत में चल–अचल सम्पत्ति पर महिलाओं की स्थिति

प्रो. (डॉ.) उपमा वर्मा*
अनूप कुमार**

सार

भारतीय समाज में महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक एवं विधिक स्थिति समय के साथ निरंतर परिवर्तित होती रही है। सम्पत्ति पर अधिकार किसी भी व्यक्ति के आर्थिक सशक्तीकरण तथा सामाजिक सम्मान का महत्वपूर्ण आधार माना जाता है। प्राचीन भारत में महिलाओं को कुछ परिस्थितियों में स्त्रीधन के रूप में चल सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त था, किन्तु अचल सम्पत्ति एवं पैतृक सम्पत्ति पर उनके अधिकार अत्यंत सीमित थे। धर्मशास्त्रों, स्मृतियों तथा उत्तराधिकार संबंधी परंपराओं में महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु व्यवहार में इन अधिकारों पर अनेक सामाजिक एवं पारिवारिक प्रतिबंध भी विद्यमान थे। जबकि वर्तमान भारत में भारतीय संविधान द्वारा महिलाओं को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है तथा विभिन्न विधियों, विशेष रूप से हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 एवं उसके 2005 के संशोधन के माध्यम से महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के समान अधिकार प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वैधानिक प्रावधानों एवं न्यायालयों के निर्णयों ने भी महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों को अधिक प्रभावी एवं सुरक्षित बनाया है। इसके बावजूद सामाजिक रूढ़ियों, जागरूकता की कमी, पारिवारिक दबाव तथा न्यायिक प्रक्रिया की जटिलताओं के कारण अनेक महिलाओं को आज भी अपने वैधानिक अधिकारों का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं हो पाता।

मुख्य शब्द :– सम्पत्ति अधिकार, चल सम्पत्ति, अचल सम्पत्ति, उत्तराधिकार, प्राचीन भारत, वर्तमान भारत, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956, हिन्दू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005

भूमिका

भारतीय समाज में सम्पत्ति का अधिकार केवल आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण का माध्यम नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा, स्वतंत्रता, सुरक्षा तथा निर्णय लेने की क्षमता का भी आधार है। किसी भी समाज में महिलाओं की वास्तविक स्थिति का आकलन उनके शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार तथा सम्पत्ति पर अधिकार के आधार पर किया जाता है। यदि महिलाओं को चल एवं अचल सम्पत्ति पर समान अधिकार प्राप्त हों, तो वे आर्थिक रूप से सशक्त बनती हैं, परिवार एवं समाज में उनका सम्मान बढ़ता है तथा वे विकास प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी निभाने में सक्षम होती हैं। प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति समय–समय पर परिवर्तित होती रही। वैदिक काल में महिलाओं को अपेक्षाकृत सम्मानजनक स्थान प्राप्त था तथा उन्हें शिक्षा, धार्मिक अनुष्ठानों और सीमित रूप में सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त थे। इस काल में स्त्रीधन की व्यवस्था महिलाओं की व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में स्वीकार की गई थी। स्त्रीधन में विवाह के समय प्राप्त उपहार, आभूषण, धन तथा अन्य चल सम्पत्तियाँ सम्मिलित होती थीं, जिन पर महिला का अधिकार माना जाता था। तथापि पैतृक अचल सम्पत्ति एवं संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में महिलाओं के अधिकार सामान्यतः सीमित थे।

उत्तरवैदिक काल एवं धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के विकसित होने के साथ महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों पर अनेक सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिबंध लगाए गए। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रों में महिलाओं के अधिकारों का उल्लेख मिलता है, किन्तु अधिकांश परिस्थितियों में उत्तराधिकार का प्रमुख अधिकार पुरुषों को ही प्राप्त था। महिलाओं को प्रायः केवल भरण–पोषण, स्त्रीधन अथवा सीमित उत्तराधिकार तक ही अधिकार प्राप्त होते थे। मिताक्षरा एवं दायभाग जैसी उत्तराधिकार प्रणालियों में भी महिलाओं की स्थिति समान नहीं थी; विशेषकर मिताक्षरा पद्धति में पैतृक सम्पत्ति पर महिलाओं का अधिकार अत्यंत सीमित था।

* शोध निर्देशक का0 सु0 साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या (उ0प्र0)
** शोध छात्र (प्राचीन इतिहास विभाग) का0 सु0 साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या (उ0प्र0)

मध्यकालीन सामाजिक संरचना तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण महिलाओं की सम्पत्ति संबंधी स्थिति और अधिक कमजोर हुई। बाल विवाह, पर्दा प्रथा तथा महिलाओं की आर्थिक निर्भरता ने उनके सम्पत्ति अधिकारों के प्रभावी उपयोग में बाधाएँ उत्पन्न कीं। फलस्वरूप महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता सीमित रही।

आधुनिक भारत में सामाजिक सुधार आंदोलनों, स्वतंत्रता संग्राम तथा संवैधानिक मूल्यों के प्रभाव से महिलाओं की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। भारतीय संविधान ने समानता, स्वतंत्रता एवं विधि के समक्ष समान संरक्षण का अधिकार प्रदान करते हुए महिलाओं को पुरुषों के समान संवैधानिक दर्जा दिया। इसके पश्चात विभिन्न विधायी सुधारों के माध्यम से महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों को सुदृढ़ किया गया। विशेष रूप से हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 तथा हिन्दू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 ने पुत्रियों को पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के समान अधिकार प्रदान कर भारतीय उत्तराधिकार व्यवस्था में ऐतिहासिक परिवर्तन किया।

वर्तमान समय में महिलाओं को चल एवं अचल सम्पत्ति के स्वामित्व, उत्तराधिकार, क्रय–विक्रय, उपहार, वसीयत तथा सम्पत्ति के प्रबंधन के संबंध में व्यापक विधिक अधिकार प्राप्त हैं। इसके बावजूद सामाजिक रूढ़ियाँ, पारिवारिक दबाव, विधिक जागरूकता का अभाव तथा न्यायिक प्रक्रिया की जटिलताएँ अनेक महिलाओं को उनके वैधानिक अधिकारों का पूर्ण लाभ प्राप्त करने से रोकती हैं। विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक महिलाएँ आज भी पैतृक सम्पत्ति में अपने वैधानिक अधिकार का दावा नहीं कर पाती हैं।

धर्मशास्त्रों में महिलाओं के सम्पत्ति अधिकार

1. **मनुस्मृति में महिलाओं के सम्पत्ति अधिकार :** मनुस्मृति प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ मानी जाती है। इसमें महिलाओं के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के साथ–साथ सम्पत्ति संबंधी अधिकारों का भी उल्लेख मिलता हैं मनुस्मृति के अनुसार विवाह के समय, माता–पिता, भाई, पति तथा अन्य संबंधियों द्वारा दिए गए उपहार, आभूषण, धन एवं वस्तुएँ स्त्रीधन मानी जाती थीं। इस स्त्रीधन पर महिला का व्यक्तिगत अधिकार स्वीकार किया गया था। हालांकि पैतृक भूमि एवं संयुक्त परिवार की अचल सम्पत्ति पर महिलाओं को सामान्यतः उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त नहीं था। विधवा महिला को कुछ परिस्थितियों में भरण–पोषण का अधिकार प्राप्त था, किन्तु सम्पत्ति का पूर्ण स्वामित्व प्रायः पुरुष उत्तराधिकारियों को ही मिलता था।
2. **याज्ञवल्क्य स्मृति में महिलाओं के सम्पत्ति अधिकार :** याज्ञवल्क्य स्मृति को मनुस्मृति की अपेक्षा अधिक विकसित एवं व्यावहारिक विधि ग्रंथ माना जाता है। इसमें स्त्रीधन की स्पष्ट व्याख्या की गई है तथा महिलाओं के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों को अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार स्त्रीधन पर महिला का पूर्ण अधिकार था तथा वह उसका उपयोग अपनी इच्छा के अनुसार कर सकती थी। यदि किसी पुरुष की मृत्यु बिना पुत्र के होती थी, तो कुछ परिस्थितियों में विधवा को सम्पत्ति के उपयोग का अधिकार दिया जाता था। यद्यपि पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों को प्राथमिकता दी गई, फिर भी विधवा के आर्थिक संरक्षण पर विशेष बल दिया गया।
3. **नारद स्मृति में महिलाओं के सम्पत्ति अधिकार :** नारद स्मृति में उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति संबंधी नियमों का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ में स्त्रीधन की विधिक मान्यता को स्वीकार करते हुए महिलाओं के आर्थिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है। नारद स्मृति के अनुसार महिला को विवाह के समय प्राप्त उपहार एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त था। विधवा के भरण–पोषण एवं जीवन–निर्वाह की व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। हालांकि संयुक्त परिवार की पैतृक अचल सम्पत्ति में महिलाओं के अधिकार सीमित ही रहे।
4. **अन्य धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोण :** बृहस्पति स्मृति, कात्यायन स्मृति एवं विष्णु स्मृति जैसे अन्य धर्मशास्त्रों में भी स्त्रीधन को महिलाओं की वैध सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इन ग्रंथों में यह व्यवस्था दी गई कि विवाह के समय अथवा जीवन के अन्य अवसरों पर प्राप्त उपहारों पर महिला का अधिकार सुरक्षित रहेगा। साथ ही विधवा के भरण–पोषण एवं सम्मानजनक जीवन की व्यवस्था पर भी बल दिया गया। हालाँकि अधिकांश धर्मशास्त्रों में पैतृक अचल सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुरुषों को प्राथमिकता के आधार पर प्रदान किया गया। महिलाओं को उत्तराधिकार सामान्यतः विशेष परिस्थितियों में ही प्राप्त होता था।

5. **आधुनिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन :** आधुनिक भारतीय विधि एवं संविधान महिलाओं को समान सम्पत्ति अधिकार प्रदान करते हैं। विशेष रूप से हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 तथा हिन्दू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 के माध्यम से पुत्रियों को पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। यह परिवर्तन धर्मशास्त्रीय व्यवस्था की तुलना में महिलाओं के अधिकारों का महत्वपूर्ण विस्तार है।

प्राचीन भारत में सम्पत्ति पर महिलाओं की स्थिति

1. **वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति :** वैदिक काल में महिलाओं को समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। उन्हें शिक्षा, धार्मिक अनुष्ठानों तथा पारिवारिक निर्णयों में भाग लेने का अवसर मिलता था। इस काल में महिलाओं को विवाह के समय प्राप्त उपहार, आभूषण, धन, पशुधन एवं अन्य चल सम्पत्तियों पर अधिकार प्राप्त था। यह सम्पत्ति स्त्रीधन के रूप में जानी जाती थी। स्त्रीधन पर महिला का व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार किया जाता था तथा सामान्यतः उसका उपयोग उसकी इच्छा के अनुसार किया जा सकता था। हालाँकि, पैतृक भूमि एवं संयुक्त परिवार की अचल सम्पत्ति पर महिलाओं का अधिकार बहुत सीमित था। अधिकांशतः सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुत्रों को दिया जाता था।
2. **उत्तरवैदिक एवं धर्मशास्त्रीय काल :** उत्तरवैदिक काल में समाज अधिक पितृसत्तात्मक हो गया। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रों ने महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों को सीमित रूप में स्वीकार किया। महिलाओं को स्त्रीधन पर अधिकार प्राप्त था, किन्तु पैतृक अचल सम्पत्ति में उनका उत्तराधिकार सामान्यतः मान्य नहीं था। विधवा महिलाओं को कुछ परिस्थितियों में पति की सम्पत्ति के उपयोग अथवा भरण–पोषण का अधिकार दिया जाता था, किन्तु अधिकांश मामलों में उन्हें सम्पत्ति का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त नहीं होता था। संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्रायः पुत्रों अथवा अन्य पुरुष सदस्यों को ही प्राप्त होता था।
3. **उत्तराधिकार संबंधी स्थिति :** प्राचीन भारतीय उत्तराधिकार व्यवस्था मुख्यतः पितृसत्तात्मक थी। परिवार की भूमि, कृषि सम्पत्ति एवं अन्य अचल सम्पत्तियों का उत्तराधिकार सामान्यतः पुरुष उत्तराधिकारियों को प्राप्त होता था। पुत्र की अनुपस्थिति में कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा अथवा पुत्री को सीमित अधिकार दिए जाते थे, किन्तु उन्हें संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त नहीं थे।

वर्तमान भारत में सम्पत्ति पर महिलाओं के अधिकार

संवैधानिक आधार : भारतीय संविधान महिलाओं को समान अधिकार प्रदान करता है। प्रमुख संवैधानिक प्रावधान निम्नलिखित हैं:–

- अनुच्छेद 14 – विधि के समक्ष समानता एवं विधि का समान संरक्षण।
- अनुच्छेद 15(1) – धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव का निषेध।
- अनुच्छेद 15(3) – महिलाओं एवं बच्चों के हित में विशेष प्रावधान बनाने का अधिकार।
- अनुच्छेद 21 – गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार।
- अनुच्छेद 39(क), 39(घ) एवं 39(ड) – पुरुष एवं महिला दोनों को समान अवसर तथा समान आर्थिक अधिकार प्रदान करने का निर्देश।

इन संवैधानिक प्रावधानों ने महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों को सुदृढ़ करने की आधारशिला रखी है।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 एवं 2005 का संशोधन

महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण विधिक परिवर्तन हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 तथा हिन्दू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 के माध्यम से हुआ।

2005 के संशोधन के बाद–

- पुत्रियों को पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के समान अधिकार प्राप्त हुए।
- पुत्री जन्म से ही सहभाजक मानी जाती है।
- पुत्री को पैतृक सम्पत्ति में समान हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।
- वह सम्पत्ति के विभाजन की मांग कर सकती है।
- सम्पत्ति के साथ जुड़े अधिकारों के समान दायित्व भी उस पर लागू होते हैं।

यह संशोधन महिलाओं की आर्थिक समानता की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम माना जाता है।

चल सम्पत्ति पर महिलाओं के अधिकार

वर्तमान भारत में महिलाओं को चल सम्पत्ति पर पूर्ण विधिक अधिकार प्राप्त हैं। वे निम्नलिखित सम्पत्तियों की स्वामिनी हो सकती हैं–

- नकद धनराशि
- बैंक जमा एवं निवेश
- स्वर्ण एवं आभूषण
- वाहन
- शेयर, डिबेंचर एवं प्रतिभूतियाँ
- बीमा राशि
- वेतन, पेंशन एवं अन्य आर्थिक लाभ

महिलाएँ इन सम्पत्तियों का स्वतंत्र रूप से उपयोग, विक्रय, दान अथवा हस्तांतरण कर सकती हैं।

अचल सम्पत्ति पर महिलाओं के अधिकार

महिलाओं को वर्तमान विधि के अंतर्गत भूमि, भवन, फ्लैट, कृषि भूमि एवं अन्य अचल सम्पत्तियों पर समान स्वामित्व प्राप्त है। वे–

- अचल सम्पत्ति खरीद सकती हैं।
- सम्पत्ति बेच सकती हैं।
- दान अथवा वसीयत कर सकती हैं।
- उत्तराधिकार के आधार पर सम्पत्ति प्राप्त कर सकती हैं।
- न्यायालय में अपने सम्पत्ति अधिकारों की रक्षा हेतु वाद दायर कर सकती हैं।

अन्य व्यक्तिगत विधियों में सम्पत्ति अधिकार

भारत में विभिन्न धार्मिक समुदायों के लिए अलग–अलग व्यक्तिगत विधियाँ लागू हैं।

- मुस्लिम विधि में महिलाओं को उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त है, यद्यपि उत्तराधिकार के अंश धार्मिक प्रावधानों के अनुसार निर्धारित होते हैं।
- भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के अंतर्गत ईसाई एवं पारसी महिलाओं को भी उत्तराधिकार संबंधी अधिकार प्राप्त हैं।

निष्कर्ष

भारतीय समाज में महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों का स्वरूप समय के साथ महत्वपूर्ण रूप से परिवर्तित हुआ है। प्राचीन भारत में महिलाओं को पूर्णतः सम्पत्ति–विहीन नहीं माना गया था, किन्तु उनके अधिकार मुख्यतः स्त्रीधन तथा सीमित उत्तराधिकार तक ही सीमित थे। पैतृक एवं संयुक्त पारिवारिक अचल सम्पत्ति पर महिलाओं का अधिकार सामान्यतः स्वीकार नहीं किया जाता था। धर्मशास्त्रों, विशेषकर मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा नारद स्मृति में महिलाओं के आर्थिक संरक्षण की व्यवस्था अवश्य की गई थी, किन्तु सम्पत्ति पर पुरुषों के समान अधिकार प्रदान नहीं किए गए थे।

वर्तमान भारत में महिलाओं की विधिक स्थिति में व्यापक परिवर्तन आया है। भारतीय संविधान ने महिलाओं को समानता, गरिमा एवं समान अवसर का अधिकार प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 तथा हिन्दू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 ने महिलाओं, विशेषकर पुत्रियों, को पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के समान अधिकार प्रदान कर भारतीय उत्तराधिकार व्यवस्था में ऐतिहासिक परिवर्तन किया है। आज महिलाएँ चल एवं अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त कर सकती हैं, उनका प्रबंधन कर सकती हैं, उन्हें खरीद–बेच सकती हैं तथा उत्तराधिकार एवं वसीयत के माध्यम से उनका हस्तांतरण भी कर सकती हैं। प्राचीन एवं वर्तमान भारत की तुलना से यह निष्कर्ष निकलता है कि महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। जहाँ प्राचीन व्यवस्था में अधिकार सीमित एवं परिस्थितिनिर्भर थे, वहीं वर्तमान विधिक व्यवस्था समानता, न्याय एवं महिला सशक्तीकरण के सिद्धांतों पर आधारित है। इसके बावजूद केवल विधिक प्रावधान पर्याप्त नहीं हैं; उनके प्रभावी क्रियान्वयन, व्यापक विधिक जागरूकता तथा समाज में सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास भी आवश्यक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, एच. ओ. (2021). भारतीय संविधान का परिचय। इलाहाबाद : सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स।
2. जैन, एम. पी. (2019). भारतीय संवैधानिक विधि। गुरुग्राम : लेक्सिसनेक्सिस।
3. जैन, एम. पी. (2019). हिन्दू विधि। गुरुग्राम : लेक्सिसनेक्सिस।
4. पराशर, आर्चना (2018). Women and Family Law Reform in India. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स।
5. दीवान, परास (2020). Modern Hindu Law. इलाहाबाद : इलाहाबाद लॉ एजेंसी।

1857 के विद्रोह में वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व में शाहाबाद (भोजपुर) का जनआंदोलन– एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. कन्हैया प्रसाद सिन्हा*

सार–

सन 1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है, जिसने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की नींव को गंभीर चुनौती दी। यद्यपि इस विद्रोह का केंद्र मेरठ, दिल्ली, कानपुर और लखनऊ जैसे क्षेत्र रहे, किंतु बिहार के शाहाबाद (भोजपुर) जनपद में वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व में संचालित जनआंदोलन ने इसे व्यापक जनाधार प्रदान किया। लगभग अस्सी वर्ष की आयु में कुंवर सिंह ने न केवल अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व किया, बल्कि किसानों, जमींदारों, सैनिकों, कारीगरों तथा सामान्य जनता को संगठित कर एक व्यापक प्रतिरोध आंदोलन खड़ा किया। इस दृष्टि से शाहाबाद का संघर्ष केवल सैन्य अभियान न होकर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक असंतोष की सामूहिक अभिव्यक्ति था। प्रस्तुत अध्ययन–पत्र का उद्देश्य 1857 के विद्रोह में शाहाबाद क्षेत्र की जनभागीदारी, वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व की विशेषताओं तथा इस आंदोलन की ऐतिहासिक प्रकृति का विश्लेषण करना है। अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करते हुए प्राथमिक स्रोतों, औपनिवेशिक अभिलेखों, जिला गजेटियरों, समकालीन दस्तावेजों तथा आधुनिक इतिहासकारों के शोधों का उपयोग किया गया है। अध्ययन में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि शाहाबाद का विद्रोह केवल सैनिक असंतोष का परिणाम नहीं था, बल्कि भूमि–राजस्व व्यवस्था, औपनिवेशिक आर्थिक शोषण, स्थानीय राजनीतिक असंतोष और सांस्कृतिक स्वायत्तता की रक्षा की सामूहिक चेतना से भी प्रेरित था। निष्कर्षतः वीर कुंवर सिंह का नेतृत्व स्थानीय समाज के विविध वर्गों को एक साझा राजनीतिक उद्देश्य के अंतर्गत संगठित करने में सफल रहा। इस कारण शाहाबाद का आंदोलन 1857 के व्यापक राष्ट्रीय प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण क्षेत्रीय उदाहरण बनकर उभरता है। यह शोध बिहार के योगदान को भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के प्रारम्भिक इतिहास में उचित स्थान देने का प्रयास भी करता है।

मूल शब्द– 1857 का विद्रोह, वीर कुंवर सिंह, शाहाबाद, भोजपुर, बिहार, जनआंदोलन, औपनिवेशिक शासन, किसान, इतिहासलेखन।

भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास में वर्ष 1857 एक निर्णायक मोड़ के रूप में स्मरण किया जाता है। इसे विभिन्न इतिहासकारों ने 'सिपाही विद्रोह', 'महाविद्रोह', 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' तथा 'जनविद्रोह' जैसी संज्ञाएँ दी हैं। इन विभिन्न व्याख्याओं से स्पष्ट होता है कि 1857 का आंदोलन बहुआयामी था, जिसमें सैनिक असंतोष के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कारण भी सक्रिय थे। उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों की भाँति बिहार भी इस संघर्ष का एक महत्वपूर्ण केंद्र था, जहाँ शाहाबाद जनपद ने सबसे प्रभावशाली भूमिका निभाई।

शाहाबाद के जगदीशपुर के जमींदार वीर बाबू कुंवर सिंह ने अपने असाधारण नेतृत्व, सैन्य कौशल और राजनीतिक दूरदर्शिता के बल पर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध व्यापक जनसमर्थन संगठित किया। उस समय उनकी आयु लगभग अस्सी वर्ष थी, फिर भी उन्होंने स्थानीय सैनिकों, किसानों, जमींदारों और सामान्य जनता को एकजुट कर ब्रिटिश सत्ता को गंभीर चुनौती दी। उनका संघर्ष केवल व्यक्तिगत सत्ता या जमींदारी हितों की रक्षा तक सीमित नहीं था, बल्कि वह औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध व्यापक क्षेत्रीय प्रतिरोध का प्रतीक बन गया।

शाहाबाद में हुए इस आंदोलन की विशेषता इसकी व्यापक जनभागीदारी थी। स्थानीय किसानों ने रसद और मानव संसाधन उपलब्ध कराए, ग्रामीण समाज ने विद्रोही सेनाओं को आश्रय दिया तथा अनेक स्थानीय नेतृत्वकर्ताओं ने विभिन्न स्तरों पर संघर्ष को निरंतर बनाए रखा। इस प्रकार यह आंदोलन स्थानीय समाज और नेतृत्व के समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।

* पीएच-डी. (इतिहास), मो. जनकपुर, पो बुनियागंज, पो मुफ्फिसल, गया–823003
Email id: Kanhayaprashadsainha123456@gmail.com

आर. सी. मजूमदार (1957) ने अपनी पुस्तक *The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857* में 1857 के विद्रोह को एक अखिल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम मानने की अवधारणा पर प्रश्न उठाया। उन्होंने तर्क दिया कि विद्रोह विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग कारणों से उत्पन्न हुआ था और सभी क्षेत्रों में इसकी प्रकृति समान नहीं थी। बिहार के संदर्भ में उन्होंने वीर कुंवर सिंह की भूमिका को महत्वपूर्ण माना तथा बताया कि शाहाबाद क्षेत्र में विद्रोह को स्थानीय राजनीतिक असंतोष, जमींदारी हितों और सैनिक असंतोष से शक्ति मिली।[1]

एस. एन. सेन (1957) ने अपनी कृति *Eighteen Fifty-Seven* में 1857 के विद्रोह को राजनीतिक, सामाजिक और सैन्य कारणों से उत्पन्न एक व्यापक घटना के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि विद्रोह केवल सैनिक असंतोष तक सीमित नहीं था, बल्कि कई क्षेत्रों में जनता ने भी इसमें सक्रिय भागीदारी की। बिहार में वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व को उन्होंने विद्रोह की प्रमुख क्षेत्रीय शक्तियों में शामिल किया।[2] जॉन विलियम के (1878) ने अपनी पुस्तक *History of the Sepoy War in India* 1857–58 में ब्रिटिश प्रशासनिक दृष्टिकोण से 1857 के विद्रोह का वर्णन किया। उन्होंने इसे मुख्यतः सैनिक विद्रोह के रूप में देखा और ब्रिटिश अधिकारियों तथा सैन्य अभियानों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया। हालांकि उनके विवरण से शाहाबाद, आरा और जगदीशपुर में हुए संघर्षों की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।[3] जी. बी. मैलिसन (1880) ने *History of the Indian Mutiny of* 1857–58 में 1857 की घटनाओं का सैन्य इतिहास प्रस्तुत किया। उन्होंने वीर कुंवर सिंह को एक कुशल योद्धा और रणनीतिक नेता के रूप में वर्णित किया। उनके अनुसार कुंवर सिंह ने सीमित संसाधनों के बावजूद अंग्रेजी सेना को लंबे समय तक चुनौती दी।[4] वी. डी. सावरकर (1909) ने अपनी पुस्तक *The Indian War of Independence*, 1857 में 1857 के विद्रोह को भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम बताया। उन्होंने विद्रोह को राष्ट्रीय भावना और विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया। उनके लेखन में वीर कुंवर सिंह को स्वतंत्रता संघर्ष के वीर नेताओं में स्थान दिया गया है।[5] ललिता कुमारी एवं बीरेंद्र कुमार (2024) ने अपने शोध लेख *Uprising of 1857 in Bihar: Subalternity Effect* में बिहार में 1857 के विद्रोह को सबाल्टर्न (निम्नवर्गीय) दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया। उन्होंने बताया कि बिहार के विद्रोह में केवल सैनिक और अभिजात वर्ग ही नहीं, बल्कि किसान, मजदूर, कारीगर तथा अन्य स्थानीय समुदायों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके अध्ययन में लोकस्रोतों, औपनिवेशिक अभिलेखों और क्षेत्रीय परंपराओं के आधार पर बिहार के जनआंदोलन की प्रकृति का विश्लेषण किया गया है।[6] मनोज कुमार (2020) ने अपने शोध लेख *Indian Historiography on the Revolt of 1857: A Study* में 1857 के विद्रोह से संबंधित विभिन्न इतिहासलेखन परंपराओं का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि 1857 के विद्रोह की व्याख्या समय के साथ परिवर्तित होती रही है। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने इसे मुख्यतः सैनिक विद्रोह माना, जबकि राष्ट्रवादी और आधुनिक इतिहासकारों ने इसे व्यापक सामाजिक–राजनीतिक प्रतिरोध के रूप में देखा। उनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि क्षेत्रीय इतिहास, विशेषकर बिहार जैसे क्षेत्रों की भूमिका को समझने के लिए नवीन इतिहासलेखन दृष्टिकोण आवश्यक है।[7] अमिता सोनकर (2021) ने अपने शोध लेख *Tracing the Valour of Kunwar Singh and Amar Singh in the Revolt of 1857: From Bihar to Oudh* में वीर कुंवर सिंह और अमर सिंह की भूमिका का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि जगदीशपुर (शाहाबाद) के इन दोनों नेताओं ने 1857 के विद्रोह को बिहार से आगे अवध क्षेत्र तक विस्तारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अध्ययन में कुंवर सिंह के नेतृत्व, सैन्य रणनीति और अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध उनके संघर्ष को प्रमुखता दी गई है।[8] निकोल एम. हार्टवेल (2021–2022) ने अपने शोध लेख *Framing Colonial War Loot: The "Captured" Spolia Opima of Kunwar Singh* में ब्रिटिश अभिलेखों के आधार पर वीर कुंवर सिंह से संबंधित सैन्य वस्तुओं और औपनिवेशिक प्रस्तुतीकरण का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि ब्रिटिश अधिकारियों ने कुंवर सिंह को एक महत्वपूर्ण सैन्य प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखा और उनके विरुद्ध संघर्ष को औपनिवेशिक सैन्य विमर्श के माध्यम से प्रस्तुत किया। यह अध्ययन कुंवर सिंह के सैन्य महत्व और ब्रिटिश दृष्टिकोण को समझने में सहायक है। इतिहास लेखन की दृष्टि से भी शाहाबाद का विद्रोह विशेष महत्व रखता है।[9] औपनिवेशिक इतिहासकारों ने इसे सीमित क्षेत्रीय विद्रोह अथवा जमींदारी असंतोष के रूप में प्रस्तुत किया, जबकि राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इसे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की व्यापक राष्ट्रीय चेतना का अंग माना। समकालीन इतिहासलेखन इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच संतुलन स्थापित करते हुए स्थानीय समाज, क्षेत्रीय राजनीति और जनभागीदारी के बहुआयामी स्वरूप का विश्लेषण करता है। के. के. दत्ता (1957) ने *History of the Freedom Movement in Bihar* में बिहार के स्वतंत्रता आंदोलन के विकास का अध्ययन किया। उन्होंने विशेष रूप से शाहाबाद क्षेत्र में वीर कुंवर सिंह के

नेतृत्व, स्थानीय जमींदारों की भूमिका और ग्रामीण जनता के सहयोग का उल्लेख किया। उनके अनुसार बिहार में 1857 का आंदोलन केवल सैनिक विद्रोह नहीं था, बल्कि स्थानीय समाज के असंतोष की अभिव्यक्ति भी था।[10]

इस प्रकार मेरा यह अध्ययन ऐतिहासिक पहलुओं का समग्र अध्ययन कर स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि शाहाबाद का आंदोलन किस प्रकार स्थानीय सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों, राजनीतिक नेतृत्व तथा जनसहभागिता के संयुक्त प्रभाव से विकसित हुआ और 1857 के विद्रोह को बिहार में एक व्यापक जनआंदोलन का स्वरूप प्रदान किया।

अध्ययन के उद्देश्य–

1. 1857 के विद्रोह में शाहाबाद (भोजपुर) की भूमिका का ऐतिहासिक विश्लेषण करना और वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व की प्रकृति एवं विशेषताओं का अध्ययन करना।
2. जनआंदोलन में किसानों, जमींदारों, सैनिकों तथा सामान्य जनता की भागीदारी का मूल्यांकन करना एवं विद्रोह के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों का विश्लेषण करना।

अध्ययन पद्धति– अध्ययन में गुणात्मक तथा विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। अध्ययन के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। जिसमें प्राथमिक स्रोतों में राष्ट्रीय अभिलेखागार, बिहार राज्य अभिलेखागार, जिला गजेटियर (शाहाबाद), ब्रिटिश प्रशासनिक रिपोर्टें, सरकारी पत्राचार, समकालीन समाचार–पत्र तथा उपलब्ध पत्र–व्यवहार सम्मिलित हैं। वहीं द्वितीयक स्रोतों में इतिहासकारों की पुस्तकें, शोध–पत्र, शोध–प्रबंध, जर्नल लेख तथा प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथों का उपयोग किया गया है। स्रोतों के विश्लेषण में तुलनात्मक तथा व्याख्यात्मक पद्धति अपनाई गई है, जिससे विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वित मूल्यांकन किया जा सके। साथ ही इतिहासलेखन के माध्यम से औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी तथा समकालीन व्याख्याओं की आलोचनात्मक समीक्षा भी की गई है।

शाहाबाद का ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिचय– वर्तमान भोजपुर, बक्सर, रोहतास तथा कैमूर जनपदों को सम्मिलित करने वाला तत्कालीन शाहाबाद जिला उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य बिहार का एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक एवं सामरिक क्षेत्र था। गंगा और सोन नदियों के मध्य स्थित यह क्षेत्र कृषि उत्पादन, व्यापारिक गतिविधियों तथा सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था। आरा जिला मुख्यालय होने के कारण ब्रिटिश प्रशासन का प्रमुख केंद्र था, जबकि जगदीशपुर स्थानीय राजवंश एवं जमींदारी शक्ति का प्रमुख आधार था। ज्ञात हो कि ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल में शाहाबाद केवल प्रशासनिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सैन्य दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। बनारस, पटना और उत्तर–पश्चिम भारत को जोड़ने वाले मार्ग इस क्षेत्र से होकर गुजरते थे। परिणामस्वरूप, 1857 के विद्रोह के समय यह क्षेत्र ब्रिटिश शासन तथा विद्रोहियोंकृदोनों के लिए रणनीतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गया।

1764 के बक्सर युद्ध के पश्चात बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त होने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने बिहार में अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ करना प्रारंभ किया। स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement, 1793) के माध्यम से भूमि–राजस्व की एक नई व्यवस्था लागू की गई, जिसका उद्देश्य अधिकतम राजस्व प्राप्त करना था। (मुखर्जी, 1984)[11] यद्यपि इस व्यवस्था ने कुछ बड़े जमींदारों को कानूनी मान्यता प्रदान की, किंतु अत्यधिक राजस्व निर्धारण, कठोर वसूली तथा प्रशासनिक हस्तक्षेप के कारण अनेक पारंपरिक जमींदार आर्थिक संकट में फँस गए। शाहाबाद के अनेक भू–स्वामी बढ़ते ऋण, मुकदमों और सरकारी दबाव से असंतुष्ट थे। यही असंतोष आगे चलकर राजनीतिक प्रतिरोध में परिवर्तित हुआ। ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा स्थानीय स्वायत्तता में निरंतर हस्तक्षेप ने भी पारंपरिक नेतृत्व की प्रतिष्ठा को चुनौती दी। प्रशासनिक पदों पर अंग्रेज अधिकारियों का वर्चस्व तथा स्थानीय अभिजात वर्ग की उपेक्षा ने राजनीतिक तनाव को और अधिक बढ़ाया।

आर्थिक परिस्थितियाँ– शाहाबाद की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित थी। धान, गेहूँ, दालें तथा गन्ना प्रमुख कृषि उत्पाद थे। अधिकांश किसान छोटे अथवा मध्यम जोत वाले थे, जो भूमि–राजस्व, महाजनी ऋण तथा प्राकृतिक संकटों के कारण आर्थिक कठिनाइयों का सामना कर रहे थे। कंपनी शासन के दौरान भूमि–राजस्व की कठोर वसूली ने किसानों की आर्थिक स्थिति को और अधिक कमजोर कर दिया। अनेक किसानों को अपनी भूमि गिरवी रखनी पड़ी या महाजनों से ऊँचे ब्याज पर ऋण लेना पड़ा। इससे ग्रामीण समाज में असंतोष निरंतर बढ़ता गया। इसके अतिरिक्त स्थानीय कुटीर उद्योगों और पारंपरिक हस्तशिल्प पर

भी ब्रिटिश औद्योगिक वस्तुओं के आयात का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। ग्रामीण कारीगरों, बुनकरों तथा अन्य शिल्पकारों की आजीविका प्रभावित हुई, जिससे आर्थिक संकट केवल कृषक वर्ग तक सीमित नहीं रहा।

सामाजिक संरचना– शाहाबाद का समाज बहुस्तरीय था, जिसमें राजपूत, भूमिहार, ब्राह्मण, यादव, कुर्मी, कोइरी, दलित समुदाय, मुस्लिम कृषक, शिल्पकार तथा अन्य जातीय समूह निवास करते थे। ग्रामीण समाज का संगठन परस्पर निर्भरता पर आधारित था। स्थानीय जमींदार केवल भूमि–स्वामी ही नहीं, बल्कि सामाजिक नेतृत्व के केंद्र भी थे। संकट की परिस्थितियों में ग्रामीण जनता का उनके प्रति विश्वास महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। यही कारण था कि जब वीर कुंवर सिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया, तब विभिन्न सामाजिक वर्गों के लोगों ने उनका व्यापक समर्थन किया।यह उल्लेखनीय है कि 1857 का आंदोलन किसी एक जाति या वर्ग तक सीमित नहीं था। स्थानीय सैनिकों, किसानों, ग्रामीण नेतृत्व तथा सामान्य जनता ने विभिन्न स्तरों पर आंदोलन को सहयोग प्रदान किया। इससे शाहाबाद का विद्रोह एक व्यापक जनआंदोलन के रूप में विकसित हुआ।

राजनीतिक परिस्थितियाँ–1857 से पूर्व ब्रिटिश सरकार की नीतियों ने स्थानीय राजपरिवारों और जमींदारों की राजनीतिक शक्ति को सीमित करना प्रारंभ कर दिया था। न्यायिक मामलों, राजस्व प्रशासन तथा सैन्य नियंत्रण में अंग्रेज अधिकारियों का हस्तक्षेप निरंतर बढ़ रहा था। चौधरी (1957) वीर कुंवर सिंह की जागीर भी आर्थिक संकट और प्रशासनिक दबाव से प्रभावित थी। उन पर ऋण का बोझ बढ़ चुका था तथा अंग्रेजी प्रशासन के साथ उनके संबंध लगातार तनावपूर्ण होते जा रहे थे। अनेक इतिहासकारों का मत है कि व्यक्तिगत आर्थिक कठिनाइयों ने अवश्य भूमिका निभाई, परंतु उनका संघर्ष शीघ्र ही व्यापक जनहित और औपनिवेशिक शासन–विरोधी आंदोलन में परिवर्तित हो गया।[12]

वीर कुंवर सिंह का व्यक्तित्व एवं नेतृत्व– वीर बाबू कुंवर सिंह का जन्म लगभग 1777 ई. में बिहार के शाहाबाद जनपद के जगदीशपुर राजवंश में हुआ। वे उज्जैनिया राजपूत वंश से संबंधित थे तथा अपने परिवार के प्रमुख जमींदार थे। बाल्यकाल से ही उन्होंने घुड़सवारी, शस्त्र संचालन तथा प्रशासनिक कार्यों का प्रशिक्षण प्राप्त किया। यद्यपि वे औपचारिक रूप से आधुनिक शिक्षा से अधिक परिचित नहीं थे, किंतु स्थानीय प्रशासन, सैन्य संगठन और ग्रामीण समाज की संरचना का उन्हें गहरा ज्ञान था। यही अनुभव आगे चलकर उनके नेतृत्व की सबसे बड़ी शक्ति बना।

1857 के विद्रोह के समय कुंवर सिंह लगभग अस्सी वर्ष के थे, फिर भी उन्होंने असाधारण साहस, धैर्य और रणनीतिक क्षमता का परिचय दिया। उन्होंने केवल सैनिकों पर निर्भर रहने के बजाय किसानों, ग्रामीणों और स्थानीय जमींदारों को भी आंदोलन से जोड़ा। विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच समन्वय स्थापित कर उन्होंने आंदोलन को व्यापक आधार प्रदान किया। परिस्थितियों के अनुसार युद्धनीति बदलने, त्वरित निर्णय लेने तथा सीमित संसाधनों का प्रभावी उपयोग करने में वे अत्यंत कुशल थे। उन्होंने नदियों, जंगलों और ग्रामीण मार्गों का प्रभावी उपयोग करते हुए अंग्रेजी सेना को अनेक बार कठिन परिस्थितियों में डाल दिया। स्थानीय जनता उन्हें केवल जमींदार नहीं, बल्कि अपने संरक्षक और सम्मानित नेता के रूप में देखती थी। यही विश्वास आंदोलन की सबसे बड़ी शक्ति बना।

जुलाई 1857 में दानापुर छावनी के भारतीय सैनिकों के विद्रोह के बाद अनेक सैनिक जगदीशपुर पहुँचे और उन्होंने कुंवर सिंह से नेतृत्व स्वीकार करने का अनुरोध किया। प्रारंभ में उन्होंने परिस्थितियों का सावधानीपूर्वक आकलन किया, किंतु शीघ्र ही उन्होंने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध खुला संघर्ष प्रारंभ कर दिया। इसके बाद शाहाबाद क्षेत्र में विद्रोह ने तीव्र गति प्राप्त की। स्थानीय जनता, ग्रामीण नेतृत्व तथा विद्रोही सैनिकों के सहयोग से उन्होंने आरा, जगदीशपुर और आसपास के क्षेत्रों में ब्रिटिश प्रशासन को गंभीर चुनौती दी।

जननेता के रूप में कुंवर सिंह– कुंवर सिंह की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने स्थानीय असंतोष को संगठित राजनीतिक प्रतिरोध में परिवर्तित किया। उन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर स्थानीय समाज के विभिन्न वर्गों को एक साझा उद्देश्यकृऔपनिवेशिक शासन के प्रतिरोध के लिए संगठित किया। यही कारण है कि उनका आंदोलन केवल एक जमींदार का विद्रोह नहीं रहा, बल्कि शाहाबाद के व्यापक जनआंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर गया। किसानों द्वारा रसद उपलब्ध कराना, ग्रामीणों द्वारा आश्रय देना तथा स्थानीय सैनिकों का सहयोग इस तथ्य की पुष्टि करता है कि आंदोलन को व्यापक सामाजिक समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार वीर कुंवर सिंह का नेतृत्व 1857 के विद्रोह में क्षेत्रीय नेतृत्व, जनसंगठन और सैन्य रणनीति के सफल समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।

शाहाबाद में जनआंदोलन का स्वरूप– 1857 के विद्रोह को लंबे समय तक केवल 'सिपाही विद्रोह' के रूप में देखा जाता रहा, किंतु आधुनिक इतिहासलेखन ने यह स्पष्ट किया है कि अनेक क्षेत्रों में यह आंदोलन व्यापक जनसहभागिता पर आधारित था। शाहाबाद (वर्तमान भोजपुर) इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कुमारी एल. (2024) यहाँ विद्रोह केवल दानापुर से आए सैनिकों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि स्थानीय किसानों, जमींदारों, कारीगरों, ग्रामीण नेतृत्व तथा सामान्य जनता के सहयोग से एक संगठित जनआंदोलन का रूप ग्रहण कर गया। वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व ने विभिन्न सामाजिक वर्गों को एक साझा उद्देश्य–औपनिवेशिक शासन के विरोध के अंतर्गत संगठित किया। इस कारण शाहाबाद का संघर्ष केवल सैन्य अभियान न होकर सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिरोध का प्रतीक बन गया।[13]

25 जुलाई 1857 को दानापुर छावनी के भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोह के बाद बड़ी संख्या में सैनिक सोन नदी पार कर जगदीशपुर पहुँचे और वीर कुंवर सिंह से नेतृत्व ग्रहण करने का अनुरोध किया। इन सैनिकों के आगमन से विद्रोह को सैन्य शक्ति प्राप्त हुई, जबकि कुंवर सिंह के नेतृत्व ने उसे स्थानीय सामाजिक आधार प्रदान किया। इस प्रकार सैनिक विद्रोह और जनआंदोलन का प्रभावी समन्वय स्थापित हुआ।[14]

शाहाबाद के ग्रामीण समाज ने आंदोलन को जीवित रखने में निर्णायक भूमिका निभाई। किसानों ने विद्रोही सेना के लिए भोजन, अनाज, पशु, परिवहन तथा अन्य आवश्यक संसाधनों की व्यवस्था की। ग्रामीणों ने विद्रोही सैनिकों को आश्रय दिया तथा अंग्रेजी सेना की गतिविधियों की सूचनाएँ भी उपलब्ध कराईं। अनेक गाँव विद्रोहियों के अस्थायी शिविर बन गए।[15] स्थानीय लोगों ने कठिन परिस्थितियों में भी अंग्रेज प्रशासन का सहयोग करने से परहेज किया। इससे स्पष्ट होता है कि आंदोलन को केवल सैनिकों का नहीं, बल्कि ग्रामीण समाज का भी व्यापक समर्थन प्राप्त था।

1857 के विद्रोह का बिहार पर प्रभाव– शाहाबाद के विद्रोह का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि 1857 का आंदोलन बहुआयामी था। इसे केवल सैनिक विद्रोह या केवल जमींदारों के असंतोष तक सीमित करना ऐतिहासिक रूप से पर्याप्त नहीं है। प्रथम, वीर कुंवर सिंह का नेतृत्व स्थानीय समाज के विभिन्न वर्गों को संगठित करने में सफल रहा। किसानों, सैनिकों, ग्रामीण नेतृत्व और स्थानीय अभिजात वर्ग के सहयोग ने आंदोलन को व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। द्वितीय, आंदोलन के पीछे राजनीतिक कारणों के साथ–साथ आर्थिक और सामाजिक कारण भी समान रूप से सक्रिय थे। भूमि–राजस्व की कठोर नीति, प्रशासनिक हस्तक्षेप तथा पारंपरिक सत्ता–संरचनाओं के विघटन ने व्यापक असंतोष उत्पन्न किया। तृतीय, शाहाबाद का आंदोलन क्षेत्रीय परिस्थितियों से प्रभावित होने के बावजूद राष्ट्रीय महत्व रखता था। यह विद्रोह उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में चल रहे प्रतिरोध से जुड़ा हुआ था और उसका उद्देश्य औपनिवेशिक शासन का विरोध था। (बिहार अभिलेखगार)[16]

शाहाबाद के आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता विभिन्न सामाजिक समूहों का सहयोग था। ग्रामीण कृषक, सैनिक, स्थानीय नेतृत्व, कारीगर तथा व्यापारी अपने–अपने स्तर पर आंदोलन से जुड़े। यद्यपि सभी समुदायों की भागीदारी समान नहीं थी, फिर भी आंदोलन ने सामाजिक एकता की उल्लेखनीय मिसाल प्रस्तुत की। इससे यह स्पष्ट होता है कि वीर कुंवर सिंह का नेतृत्व केवल सैन्य नेतृत्व नहीं था, बल्कि सामाजिक नेतृत्व भी था। उन्होंने स्थानीय असंतोष को संगठित जनशक्ति में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की।

निष्कर्ष– 1857 के विद्रोह में वीर कुंवर सिंह के नेतृत्व में शाहाबाद (भोजपुर) का जनआंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के प्रारंभिक इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय है। यह आंदोलन केवल सैन्य विद्रोह नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध स्थानीय समाज की व्यापक राजनीतिक चेतना और सामूहिक प्रतिरोध का सशक्त उदाहरण था। वीर कुंवर सिंह ने अपनी आयु, सीमित संसाधनों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद असाधारण नेतृत्व क्षमता का परिचय दिया। उन्होंने सैनिकों, किसानों, जमींदारों, कारीगरों और सामान्य जनता को संगठित कर एक प्रभावशाली जनआंदोलन का निर्माण किया। यही कारण है कि शाहाबाद का विद्रोह 1857 के व्यापक प्रतिरोध का एक विशिष्ट क्षेत्रीय स्वरूप प्रस्तुत करता है।

अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि बिहार का योगदान भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। अतः 1857 के विद्रोह के अध्ययन में केवल दिल्ली, कानपुर और लखनऊ जैसे प्रमुख केंद्रों तक सीमित रहने के बजाय शाहाबाद जैसे क्षेत्रीय केंद्रों का भी गहन अध्ययन आवश्यक है। इससे भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की अधिक व्यापक, संतुलित और समावेशी समझ विकसित होती है। इतिहासलेखन की दृष्टि से भी यह आंदोलन महत्वपूर्ण है। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने इसे सीमित क्षेत्रीय विद्रोह के रूप

में प्रस्तुत किया, जबकि राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इसे स्वतंत्रता संग्राम का अभिन्न अंग माना। समकालीन अध्ययन इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुए जनभागीदारी, क्षेत्रीय इतिहास तथा स्थानीय नेतृत्व के महत्व पर बल देता है।

संदर्भ सूची

1. मजूमदार, आर. सी. (1957) द सिपॉय म्यूटिनी एंड द रिवोल्ट ऑफ 1857 कलकत्ता– फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, पृ. 1–4।
2. सेन, एस. एन. (1957) अठारह सौ सत्तावन, नई दिल्ली– प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पृ. 1–5।
3. के, जॉन विलियम (1878). ए हिस्ट्री ऑफ द सिपॉय वार इन इंडिया, 1857–58, खंड I–III- लंदनः डब्ल्यू. एच. एलन एंड कंपनी। पृ. 5–13।
4. मैलिसन, जी. बी. (1880) हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी ऑफ 1857–58, खंड I–III. लंदनः डब्ल्यू. एच. एलन एंड कंपनी, पृ. 56–64।
5. सावरकर, वी. डी. (1909) द इंडियन वार ऑफ इंडिपेंडेंस, 1857 लंदनः द फ्री इंडिया सोसाइटी, पृ. 86–92।
6. दत्ता, के. के. (1957) हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार, खंड–1, पटना, बिहार सरकार, पृ. 76–81।
7. स्टोक्स, एरिक (1986). द पीजेंट आर्म्ड– द इंडियन रिवोल्ट ऑफ 1857 ऑक्सफोर्ड, क्लैरेंडन प्रेस, पृ. 316–321।
8. रॉय, तपती (1994) द पॉलिटिक्स ऑफ ए पॉपुलर अप्रीजिंग बुंदेलखंड इन 1857, दिल्ली– ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. मुखर्जी, रुद्रांग्शु (1984) अवध इन रिवोल्ट, 1857–1858, ''ए स्टडी ऑफ पॉपुलर रेजिस्टेंस, दिल्ली– ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
10. चौधरी, एस. बी. (1957) सिविल रिबेलियन इन द इंडियन म्यूटिनीज, 1857–59, कलकत्ता– वर्ल्ड प्रेस।
11. कुमार, मनोज (2020) इंडियन हिस्टोरियोग्राफी ऑन द रिवोल्ट ऑफ 1857, ए स्टडी, शोध लेख, अप्रकाशित।
12. सोनकर, अमिता (2021) ट्रेसिंग द वैलर ऑफ कुंवर सिंह एंड अमर सिंह इन द रिवोल्ट ऑफ 1857– फ्रॉम बिहार टू अवध, शोध लेख।
13. हार्टवेल, निकोल एम. (2022) फ्रेमिंग कॉलोनियल वार लूटरू द 'कैप्चर्ड' स्पोलिया ओपिमा ऑफ कुंवर सिंह, *जर्नल ऑफ द हिस्ट्री ऑफ कलेक्शंस*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
14. कुमारी, ललिता एवं कुमार, बीरेंद्र (2024) अप्रीजिंग ऑफ 1857 इन बिहार– सबाल्टर्निटी इफेक्ट, शोध लेख।
15. बिहार सरकार (1966) बिहार जिला गजेटियर– ''शाहाबाद पटना'' बिहार सचिवालय प्रेस। पृ. 1:4(3)।
16. राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली (1857–1859) गृह विभागीय कार्यवाही एवं न्यायिक कार्यवाही, नई दिल्ली– राष्ट्रीय अभिलेखागार।

पाठ्यपुस्तक के समावेशन की अवधारणा : कक्षा–7 की पाठ्यपुस्तक 'समाज की खोजः भारत और आगे' का विषयवस्तु विश्लेषण

डॉ. अखिलेश यादव*
आनन्द साहू**

शोध सार

शोध कक्षा-*7* की सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तक "समाज की खोज: भारत और आगे*"* का विश्लेषण करता है, जिसमें विकलांगता, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समावेशन की व्याख्या पर ध्यान दिया है। शोध ने विकलांगता और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समावेशन को बढ़ावा देने से संबंधित विषयवस्तु के विश्लेषण के माध्यम से समावेशी प्रथाओं की जाँच की है। पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु विद्यार्थियों की सोच को परिवर्तित कर सकती है और समाज को समावेशिता के प्रति संवेदनशील बना सकती है। शोध को संपन्न करने के लिए विषयवस्तु विश्लेषण विधि तथा परिभाषित कोडिंग संरचना का प्रयोग किया गया, ताकि समावेशन और बहिष्करण के उदाहरणों की पुस्तक में पहचान की जा सके। शोध परिणाम दर्शाते हैं कि प्रत्येक श्रेणी में परिवर्तनशील विचारधाराएँ मौजूद हैं, जबकि संवैधानिक सिद्धांत अत्यंत सशक्त और प्रभावी हैं। चित्रात्मक प्रस्तुति प्रायः अनुपस्थित रही है, और पाठ्यपुस्तक अधिक समावेशी होती हैं जब उनमें विकलांगता, समावेशी विषयवस्तु तथा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समावेशन पर चर्चा होती। ये चर्चाएँ हाशिए पर स्थित समूहों के अधिकारों, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों और मौलिक अधिकारों के माध्यम से विद्यार्थियों को लोकतांत्रिक अभ्यास एवं सामाजिक मूल्यों के प्रति संवेदनशील भी बनाती हैं। शोध समावेशी विषयवस्तु की आवश्यकता और विद्यार्थियों को संवेदनशील बनाकर समावेशी समाज के निर्माण की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। शोध पाठ्यपुस्तक विकास और शिक्षण-शास्त्र के निहितार्थों पर भी चर्चा करता है और शिक्षार्थियों में समाज के प्रति अधिक समावेशी संवेदनशीलता विकसित करने की वकालत करता है। शोध पाठ्यचर्या में शैक्षिक सामग्री और पाठ्यपुस्तकों के समावेशन की जाँच कर समावेशी शिक्षा पर केंद्रित है।

मुख्य शब्द: समावेशी विषयवस्तु, समावेशन, विकलांगता, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, समावेशी शिक्षा।

भूमिका

शिक्षा में समावेशन एक अत्यंत महत्वपूर्ण शर्त है, जो पाठ्यपुस्तकों की सहायता से सामाजिक और नैतिक मूल्यों का निर्माण करता है। विकलांगता समावेशन शिक्षा में विकलांगों के लिए समान अवसर सुनिश्चित करता है; आर्थिक समावेशन संसाधनों तक बिना किसी अवरोध के समान पहुँच प्रदान करता है; सामाजिक समावेशन समाज में व्यक्तियों की पूर्ण भागीदारी को बढ़ावा देता है; और राजनीतिक समावेशन शासन और राजनीतिक प्रणाली में समान निर्णय-प्रक्रिया पर केंद्रित होता है। विकलांगता समावेशन की अवधारणा चिकित्सीय मॉडल से आगे बढ़कर सामाजिक मॉडल की ओर स्थानांतरित हुई है, जो विकलांगों के लिए समाज में मौजूद अवरोधों के हटाने पर बल देती है। विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय (संयुक्त राष्ट्र, 2006) अनिवार्य करता है कि विकलांग समाज में पूर्ण भागीदारी करें और उन्हें मानवाधिकार परिप्रेक्ष्य से देखा जाए, विशेष रूप से विकासशील देशों में सामाजिक-आर्थिक विकास प्रक्रिया में विकलांगता का एकीकरण आवश्यक है। यूनेस्को (2017) का मत है कि शैक्षणिक परिवेश में समावेशन विकलांग विद्यार्थियों के लिए सहायक अधिगम वातावरण निर्मित करता है, जहाँ वे अपने सहपाठियों के साथ पढ़ते-सीखते हैं। समावेशन के लिए सामाजिक अनुकूलन आवश्यक है, जैसे-यूनिवर्सल डिज़ाइन फॉर लर्निंग, सुलभ अधोसंरचना, समावेशी नीतियाँ, सकारात्मक सामाजिक दृष्टिकोण तथा संवेदनशील नागरिक। शैक्षिक सामग्री एक मौलिक उपकरण के रूप में कार्य करती है, क्योंकि सकारात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करती है और विकलांगता को मानव विविधता के रूप में प्रस्तुत कर समाज को संवेदनशील बनाती है (जार्डिनेज एवं अन्य, 2024)। शिक्षा में समावेशन, मानवाधिकार और सामाजिक न्याय की समझ उत्पन्न करता है। यह विद्यार्थियों को बहिष्करण के ऐतिहासिक संघर्षों, अधिकार आंदोलनों और विधिक ढाँचों, जैसे कि विकलांग जन अधिकार अधिनियम, 2016 से भी अवगत कराता है (संदोवल एवं

* शिक्षक (सा. वि.) केन्द्रीय विद्यालय, आजमगढ़, यूपी, ईमेल– drakhileshyadav.edu@gmail.com, मो. 9451659718
** पी–एच.डी., शोधार्थी, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र 442001, ईमेल– anandsahuedu2021@hindivishwa.ac.in, मो. 8922010810.

अन्य, 2020)। आर्थिक समावेशन, संसाधनों और वित्तीय सेवाओं तक समान अवसर प्रदान करता है, जिससे सभी व्यक्ति आर्थिक गतिविधियों में भागीदारी कर विकास का अंग बन सकें (वर्ल्ड बैंक, 2014)। विश्व बैंक (2013) आर्थिक समावेशन को वंचित समुदायों के लिए बाजार सृजन, सभी प्रकार की सेवाओं तक पहुँच और जोखिम प्रबंधन के रूप में परिभाषित किया है। समावेशी आर्थिक विकास रणनीतियाँ समृद्धि और असमानता को संतुलित करने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं (आईएमएफ, 2017)। इसमें गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, न्यायपूर्ण रोजगार अवसर, सामाजिक सुरक्षा जाल और वित्तीय साक्षरता को शामिल किया जाता है।

सामाजिक समावेशन का अर्थ है-समाज में समान अवसर, पूर्ण भागीदारी और किसी भी समुदाय का हाशियाकरण न होना (यूनाइटेड नेशन्स, 2016)। सामाजिक बहिष्करण, अधिकारों और संसाधनों तक पहुँच को अवरुद्ध करने की प्रक्रिया है (अटकिसन एवं अन्य, 2000)। सामाजिक समावेशन के प्रमुख आयामों में-शिक्षा तक पहुँच, स्वास्थ्य सेवा, आवास, नागरिक जीवन और भेदभाव से संरक्षण भी शामिल हैं। यह ढाँचा नस्ल, जाति, धर्म, लिंग और सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर आधारित असमानताओं को भी संबोधित करता है (सेन, 2000)। सामाजिक समावेशन विविध पहचानों का सम्मान करता है (यूनेस्को, 2009)। साथ ही यह सुनिश्चित करता है कि सभी व्यक्तियों को महत्त्व और सम्मान प्राप्त हो, और सामाजिक पहचान-जैसे जाति, धर्म, लिंग और जातीयता पर आधारित अवरोधों को तोड़ा जा सके।

राजनीतिक समावेशन, नागरिकों की राजनीतिक गतिविधियों में सार्थक भागीदारी को बढ़ावा देता है (यूएनडीपी, 2012)। जबकि राजनीतिक बहिष्करण, समूहों को उनके अधिकारों से वंचित करता है। लोकतांत्रिक प्रणाली सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार और अधिकारों के माध्यम से समावेशन को प्रोत्साहित करती है, किंतु वास्तविक समावेशन के लिए अनौपचारिक बाधाओं को भी दूर करना आवश्यक है (नोरिस, 2004)। राजनीतिक समावेशन लोकतंत्र की केंद्रीय धुरी है, जो यह सुनिश्चित करता है कि नागरिक अधिकारों से आगे बढ़कर सभी आवाज़ें निर्णय-प्रक्रिया में सक्रिय रूप से सम्मिलित हों (मातवेयेवा, 2024)।

विकलांगता और सामाजिक पहचान (जैसे लिंग, जाति, धर्म) की अंतर्वर्ती प्रकृति पर चर्चा विद्यार्थियों की समझ को और गहरा करती है। उदाहरण के लिए दलित महिलाएँ जो विकलांग हैं, वे त्रिस्तरीय भेदभाव का सामना करती हैं जाति, लिंग और विकलांगता के आधार पर (थॉमप्सन एवं अन्य, 2023)। शैक्षणिक सामग्री को कल्याण वितरण, नीतियों के प्रभाव, वैकल्पिक कल्याण मॉडल, अनौपचारिक अर्थव्यवस्था, श्रम और असुरक्षित श्रमिक समूहों पर भी चर्चा करनी चाहिए (होसैन एवं अन्य, 2024)। सामाजिक उद्यमिता और उपभोक्ता नैतिकता विद्यार्थियों को असमानताओं के प्रति जागरूक बना सकती है। आलोचनात्मक समझ के माध्यम से शैक्षिक सामग्री विद्यार्थियों को आर्थिक न्याय के प्रतिनिधि बनने की शक्ति प्रदान करती है। साथ ही, यह लोकतांत्रिक सिद्धांतों, नागरिक भागीदारी और अधिकारों के ऐतिहासिक संघर्षों को रेखांकित कर राजनीतिक समावेशन को बढ़ावा देती है (नेग्रेट्टो, 2020; यादव, 2025)। यह विचार यह दर्शाता है कि विभिन्न समूह किस प्रकार अधिकारों के लिए आवाज़ उठाते हैं, राजनीतिक परिदृश्य में योगदान देते हैं और नागरिक समाज संगठनों व सामाजिक आंदोलनों की भूमिका निभाते हैं।

शोध ने पाठ्यचर्या की शक्तियों और सीमाओं की पहचान की है, विशेष रूप से समावेशन के दृष्टिकोण और भविष्य के पाठ्यचर्या विकास में इसकी दिशा को समझने हेतु। इस शोध का महत्व प्रारम्भिक शिक्षा की सामाजिक विज्ञान पुस्तक की जाँच में निहित है, जो जटिल सामाजिक प्रश्नों को संबोधित करती है। शोध भारतीय पाठ्यचर्या में समावेशी शिक्षण-शास्त्र की वर्तमान स्थिति को प्रस्तुत करता है और यह पहचानने का प्रयास करता है कि समावेशन के सैद्धांतिक ढाँचे और कक्षा-स्तरीय व्यावहारिक क्रियान्वयन के बीच क्या अंतराल है। शोध शिक्षकों, नीति-निर्माताओं और पाठ्यचर्या-निर्माताओं को अधिक समावेशी कक्षाओं और शैक्षणिक सामग्री के निर्माण हेतु एक समालोचनात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है। अंततः, शोध एक अधिक समानतामूलक शैक्षिक परिदृश्य में योगदान देता है, जहाँ प्रत्येक विद्यार्थी स्वयं को प्रतिनिधित्वशील और सशक्त महसूस करता है।

साहित्य समीक्षा:

शोध इस प्रवृत्ति को प्रमाणित करते है कि शैक्षिक सामग्रियों में मानवाधिकार, सांस्कृतिक विविधता और विद्यार्थी-केंद्रित दृष्टिकोणों के एकीकरण की ओर बढ़ती प्रवृत्ति है। तथापि, इन प्रस्तुतियों की गहराई और निरंतरता विभिन्न संदर्भों और पाठ्यचर्याओं में उल्लेखनीय भिन्नता प्रदर्शित करती है (सेन, 2000; मोहम्मद एवं अन्य, 2024; मातवेयेवा, 2024)। शोधों से पता चला है कि पाठ्यपुस्तकों में प्रायः सांस्कृतिक वस्तुएँ और मूल्य सम्मिलित होते हैं, लेकिन ये तत्व कभी-कभी अपर्याप्त या असमान रूप से वितरित होते हैं। कुछ पहलू, जैसे-आदिवासी ज्ञान, स्थानीय संस्कृति और हाशिए पर स्थित समूहों के अनुभवों को सीमित ध्यान देते है (भट्टाचार्य, 2019; नेग्रेट्टो, 2020)। यद्यपि दृश्य प्रस्तुतियाँ अधिक विविध हो रही हैं, वे अक्सर सजावटी उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं, बजाय इसके कि वे विद्यार्थियों को समावेशन और बहिष्करण के प्रश्नों पर आलोचनात्मक रूप से संलग्न करें (नायक एवं अन्य, 2021; स्कॉकपोल एवं अन्य,

2000)। समावेशन के संदर्भ में प्रगति के बावजूद, सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में समावेशन के व्यापक और आलोचनात्मक चित्रण में अब भी महत्वपूर्ण अंतराल बने हुए हैं (पटेल एवं अन्य, 2024; स्ली, 2011)।

शोध ने विकलांगता और लिंग की प्रस्तुति को रेखांकित किया है। विकलांगता की प्रस्तुति अक्सर सीमित या रूढ़िबद्ध होती है। कभी-कभी इसे पृथक कहानियों या पाठों में संबोधित किया जाता है, परंतु विकलांग बच्चे प्रायः सामग्री और आख्यान से अनुपस्थित रहते हैं, और विकलांगता को प्रायः आश्रित या दान की आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, न कि सशक्त व्यक्तियों के रूप में (फर्नांडीज, 2022; सैयद, 2018)। लिंग भूमिकाएँ अक्सर पारंपरिक द्विआधारी और पितृसत्तात्मक सामाजिक मानदंडों तक सीमित दिखाई जाती हैं, जहाँ नारीवादी दृष्टिकोण या गैर-द्विआधारी पहचानों के लिए बहुत कम स्थान मिलता है (होसैन एवं अन्य, 2024; सैंडोवल एवं अन्य, 2020)।

पाठ्यपुस्तकें मानवाधिकार, नागरिकता और व्यक्तिगत सशक्तिकरण को रेखांकित करने वाले आख्यानों को तेजी से सम्मिलित कर रही हैं, जो विद्यार्थी-केंद्रित और समावेशी शिक्षा की वैश्विक प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करती हैं (फाहीम, 2023; हक, 2013; थॉम्पसन एवं अन्य, 2023)। तथापि, इन आख्यानों की स्पष्टता और गहराई भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, "मानवाधिकारों की पीढ़ियों" का प्रतिनिधित्व माध्यमिक स्तर पर अधिक स्पष्ट है, जबकि प्राथमिक और निचले माध्यमिक स्तर की पाठ्यपुस्तकों में विशेष रूप से सामूहिक और एकजुटता अधिकारों की व्यापक आवृत्ती का अभाव प्राप्त होता है (हेडेन एवं अन्य, 2020; सुब्रमणियन एवं अन्य, 2023)। कई शोधों ने नोट किया है कि हाशिए पर स्थित समूहों या सांस्कृतिक विविधता की दृश्य प्रस्तुतियाँ मौजूद हैं, किंतु उनमें गहराई या संदर्भ का अभाव है, जिसके कारण वास्तविक समावेशन को बढ़ावा देने में उनकी प्रभावशीलता सीमित हो जाती है (कार्टर एवं अन्य, 2023; यूनाइटेड नेशन्स, 2016)।

शोध यह भी रेखांकित करते है कि पाठ्यपुस्तकें प्रायः सांस्कृतिक वस्तुएँ, परंपराएँ और स्थानीय मूल्यों को सम्मिलित करती हैं; तथापि, उनकी प्रस्तुति अपर्याप्त या सतही होती है (मंजा & उगगेन, 2004; ज़िल्ला, 2022)। आदिवासी ज्ञान और स्थानीय संस्कृति विशेष रूप से कम प्रस्तुत होते हैं, और बहुत कम गतिविधियाँ विद्यार्थियों को इन दृष्टिकोणों से संलग्न होने के लिए प्रोत्साहित करती हैं (जार्डिनेज & नतिविदाद, 2024; यागोडा, 2019)। शोध यह स्पष्ट करते हैं कि विविधता और समावेशन पर बल देशों और पाठ्यचर्याओं के बीच भिन्न है-कुछ पाठ्यपुस्तकें बहुसांस्कृतिकता या वैश्विक नागरिकता की तुलना में राष्ट्रीय विचारों या धार्मिक पहचानों को प्राथमिकता देती हैं (भट्टाचार्य, यू. 2019; होसैन एवं अन्य, 2024)।

शोध इंगित करते है कि सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में आख्यान और दृश्य प्रस्तुति दोनों में समावेशन की ओर स्पष्ट प्रवृत्ति है, किंतु इसमें स्थायी अंतराल और असंगतियाँ भी हैं (कोसिर, & लक्ष्मीनारायण, 2022; बुनबूरी, 2018; वर्ल्ड बैंक, 2013)। सबसे ठोस प्रमाण यह दर्शाते हैं कि मानवाधिकार, विद्यार्थी-केंद्रित दृष्टिकोण और सांस्कृतिक विविधता का समावेश बढ़ रहा है, जो व्यापक शैक्षिक और सामाजिक परिवर्तनों को प्रतिबिंबित करता है (भट्टाचार्य, 2019; वर्ल्ड बैंक.,2014)। तथापि, वास्तविक गहराई अब भी सीमित है, विशेष रूप से हाशिए पर स्थित समूहों, आदिवासी ज्ञान और स्थानीय संस्कृतियों के संदर्भ में, जहाँ वे सतही उल्लेख या सजावटी दृश्यों तक ही सीमित रहते हैं (अटकिसन एवं अन्य, 2000) ।

फिर भी, अधिकांश शोधों ने सामग्री विश्लेषण पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है, बजाय इसके कि वे इन प्रस्तुतियों के विद्यार्थियों के दृष्टिकोण, संवेदनशीलता या अधिगम परिणामों पर प्रभाव का मूल्यांकन करें। शोध इंगित करते है कि इस क्षेत्र में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। साहित्य के विश्लेषण से पता चलता है कि आदिवासी ज्ञान, स्थानीय संस्कृति, विकलांग व्यक्ति और हाशिए पर स्थित समूहों के जीवनानुभवों के प्रतिनिधित्व में महत्वपूर्ण अंतराल बने हुए हैं। दृश्य सामग्री अक्सर केवल सजावटी भूमिका निभाती है, न कि आलोचनात्मक संलग्नता के उपकरण के रूप में; और डिजिटल तथा सहभागितापरक दृष्टिकोणों का कार्यान्वयन भी अभी अविश्वसनीय है।

शोध उद्देश्य:

- भारत में कक्षा-7 की सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में समावेशी विषयवस्तु का विश्लेषण करना।
- पाठ्यपुस्तकों में विकलांगता, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समावेशन संबंधी विषयवस्तु के एकीकरण एवं उपस्थिति की जाँच करना।
- समालोचनात्मक रूप से यह परीक्षण करना कि पाठ्यचर्या विद्यार्थियों को लोकतांत्रिक समाज के सक्रिय नागरिकों के रूप में किस प्रकार संवेदनशील बनाती है।

शोध प्रश्न:

- कक्षा 7 की सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में समावेशन की अवधारणा किस प्रकार चित्रित की गई है?
- किस प्रकार की कथात्मक और दृश्यात्मक प्रस्तुतियाँ पाठ्यपुस्तक में समावेशन या बहिष्करण का निर्माण करती हैं?
- पाठ्यपुस्तकें विकलांगता के दृष्टिकोण से समावेशन की अवधारणा को किस प्रकार प्रस्तुत करती हैं?
- पाठ्यपुस्तकें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण से समावेशन की अवधारणा को किस प्रकार प्रस्तुत करती हैं?

शोध प्रविधि:

यह शोध गुणात्मक विषयवस्तु विश्लेषण पर आधारित है, जिसके अंतर्गत कक्षा 7 की सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तक "समाज की खोज: भारत और आगे" का परीक्षण विकलांगता, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आयामों में समावेशन के दृष्टिकोण से किया गया है। शोध में पाठ्य-वस्तु, दृश्य-वस्तु, तथा प्रकरणों द्वारा सुझाई गई गतिविधियों का विश्लेषण किया गया है। इसमें विकलांगता समावेशन की सीमा, आर्थिक समावेशन का निरूपण, सामाजिक समावेशन के विषय और राजनीतिक समावेशन के चित्रण का आकलन सम्मिलित है। आकड़ा विश्लेषण के लिए विषयवस्तु को समावेशन के चार आयामों में वर्गीकृत किया गया, प्रत्येक के लिए विशिष्ट संकेतक निर्धारित किए गए।

परिणामों की प्राप्ति

विषयवस्तु विश्लेषण के निष्कर्ष चारों समावेशन आयामों के अनुसार व्यवस्थित किए गए हैं, जो कक्षा 7 की सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तक में उनके निरूपण की सीमा और प्रकृति का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

तालीका-1 : अध्यायों में समावेशी विषय वस्तु एवं समावेश के मुख्य क्षेत्र

अध्याय स.	अध्याय का शीर्षक	समावेश के मुख्य बिंदु	समावेश के मुख्य क्षेत्र
1	भारत की भौगोलिक विविधता	क्षेत्रीय जीवन शैली और सांस्कृतिक विविधता का उल्लेख; आदिवासी और ग्रामीण समुदायों का समावेश निहित है, लेकिन इसका विवरण नहीं दिया गया है।	सामाजिक
2	मौसम को समझना	चर्चा करता है कि मौसम कृषि और दैनिक जीवन को कैसे प्रभावित करता है; इसमें सीमांत किसान शामिल हो सकते हैं, लेकिन विकलांगता या लिंग पर कोई स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं है।	आर्थिक, सामाजिक
3	भारत की जलवायु	आजीविका पर जलवायु के प्रभाव पर प्रकाश डालता है; जलवायु संवेदनशीलता में असमानता को छू सकता है, लेकिन इसका विवरण नहीं दिया गया है।	आर्थिक, सामाजिक
4	नई शुरुआत: शहर और राज्य	प्रारंभिक शहरी समाजों का परिचय देता है; जाति, लिंग भूमिकाओं को शामिल करने की संभावना है, लेकिन कोई स्पष्ट समावेशी कथा नहीं मिली।	सामाजिक, राजनीतिक
5	साम्राज्यों का उदय	शासन और सामाजिक पदानुक्रम पर केंद्रित है; बहिष्करण या हाशिए पर जाने की आलोचना का अभाव है।	राजनीतिक, सामाजिक
6	पुनर्गठन का युग	राजनीतिक बदलावों पर चर्चा करता है; इसमें हाशिए के समूहों की भूमिका शामिल हो सकती है, लेकिन इसे स्पष्ट रूप से शामिल नहीं किया गया है।	राजनीतिक, सामाजिक
7	गुप्त काल - रचनात्मकता का युग	सांस्कृतिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालता है; समावेशी प्रथाओं या हाशिए पर पड़ी आवाजों का कोई उल्लेख नहीं है।	सामाजिक
8	कैसे भूमि पवित्र हो जाती है	धर्मों में तीर्थयात्रा और पवित्र भूगोल को शामिल करता है; कई धर्मों को शामिल करता है, लेकिन विकलांगता या लिंग को नहीं।	सामाजिक, धार्मिक
9	शासकों से शासितों तक	सरकारों के प्रकारों का परिचय देता है; इसमें नागरिक अधिकार शामिल हो सकते हैं, लेकिन विकलांगता या अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व का कोई जिक्र नहीं है।	राजनीतिक, सामाजिक
10	भारत का संविधान – एक परिचय	मौलिक अधिकारों का उल्लेख करता है; इसमें समानता और गरिमा शामिल है, लेकिन विकलांगता अधिकारों पर स्पष्ट रूप से चर्चा नहीं की गई है।	राजनीतिक, सामाजिक

11	वस्तु विनिमय से धन तक	व्यापार के विकास को समझाता है; इसमें अनौपचारिक कार्यकर्ता शामिल हो सकते हैं, लेकिन विकलांगता या लिंग-आधारित आर्थिक विश्लेषण का कोई जिक्र नहीं है।	आर्थिक
12	बाजारों को समझना	बाजार की भूमिकाओं और उपभोक्ता अधिकारों पर चर्चा करता है; इसमें समावेशी अर्थव्यवस्था को शामिल करने की संभावना है, लेकिन इसका विस्तार से वर्णन नहीं किया गया है।	आर्थिक, सामाजिक

तालिका-2 : अध्यायों के मध्य समावेशन की प्रवृत्तियाँ

आयाम	**विषयवस्तु आवृत (कवरेज)**	**अवलोकन**	कुल संहिताबद्ध खंड	प्रत्यक्ष	अनुपस्थित
विकलांगता	बहुत कम	विकलांगता के अधिकारों, पहुँच या प्रतिनिधित्व का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।	27	6 (22 %)	77% अनुपस्थित
आर्थिक	मध्यम	अध्याय 2, 3, 11, 12 आजीविका, बाजारों और व्यापार पर चर्चा करते हैं, लेकिन गरीबी-विकलांगता के संबंध में कोई जिक्र नहीं है।	94	34 (36 %)	सभी 12 अध्यायों में विकलांगता-गरीबी संबंध का अभाव
सामाजिक	मध्यम	संस्कृति, धर्म और क्षेत्र में विविधता को शामिल किया गया है; लिंग और जाति निहित हैं, लेकिन उनका आलोचनात्मक परीक्षण नहीं किया गया है।	118	48 (41 %)	जाति > लिंग > विकलांगता श्रेणीबद्धता
राजनीतिक	आंशिक	संविधान पर अध्याय 10 में अधिकार और समानता शामिल है; विकलांग या हाशिए के समूहों की राजनीतिक भागीदारी पर चर्चा का अभाव है।	63	21 (33 %)	केवल अध्याय 10 में विकलांग मतदाताओं का स्पष्ट उल्लेख है

तालिका-1 के अवलोकन के पश्चात प्राप्त हुआ कि पुस्तक विद्यार्थियों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अवधारणाओं की विस्तृत श्रृंखला से परिचित कराती है, अधिकांश अध्यायों में समावेशन सतही बना रहता है। विकलांगता समावेशन लगभग पूरी तरह अनुपस्थित है, और जहां सामाजिक और आर्थिक समावेशन का उल्लेख है, वहाँ अंतःसंबंधिता की गहराई (जैसे, विकलांग महिलाएँ, आदिवासी अर्थव्यवस्थाएँ आदि) नहीं है।

तालिका-2 के विश्लेषण के पश्चात प्राप्त हुआ कि- सभी अध्यायों में से केवल 1 अध्याय में ही कानूनी अधिकारों की जानकारी दी गई है; किसी अध्याय में दिव्याङ्गजन अधिकार अधिनियम 2016, आरक्षण, या अभिगम्यता मानक पर चर्चा नहीं है। विकलांग लड़कियों, दलित-विकलांग, विकलांग आदिवासी व्यक्तियों, या विकलांग एलजीबीक्यूटी पर कोई विवरण नहीं है। दिव्यांगजन संगठनों, माइक्रो-क्रेडिट, या सरकारी योजनाओं का कोई उल्लेख नहीं है। मूल्यांकन गतिविधि सभी "आइए करें" गतिविधियाँ सक्षम-शरीर वाले विद्यार्थियों पर केंद्रित हैं (जैसे, "जलवायु देखने के लिए पास का किला चढ़ना") – व्हीलचेयर उपयोगकर्ताओं के लिए कोई अनुकूलन संकेत नहीं दिए गए हैं। साथ ही **तालिका-2** इंगित करती है कि केवल 22 प्रतिशत ही विषयवस्तु पुस्तक में उपलब्ध है जो किसी न किसी रूप में विकलांगता समावेशन को इंगित करते है, आर्थिक समावेशन के संदर्भ में केवल 36 प्रतिशत ही विषयवस्तु उपलब्ध है| सामाजिक समावेशन को इंगित करने वाले विषयवस्तु की अधिकता (41 प्रतिशत) है किन्तु राजनीतिक समावेशन को इंगित एवं बढ़ावा देने वाले केवल 33 प्रतिशत ही विषयवस्तु उपलब्ध है| पुस्तक में विकलांगता-विषयक सामग्री और सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समावेशन संबंधी विषय वस्तु की जांच की गई है जहा परिणाम को निम्न आयाम के माध्यम से प्रस्तुत किया गया हैं-

विकलांगता समावेशन:

पाठ्यपुस्तकों में अक्सर विकलांगता-संबंधी विषयवस्तु (पाठ्य और दृश्य दोनों) के समावेशन की उल्लेखनीय कमी दिखाई देती है। यह विषयवस्तु जांच करती है कि पाठ्य पुस्तकें प्रचलित रूढ़ियों को चुनौती देने या विकलांग व्यक्तियों की क्षमताओं पर बल देने में विफल रहती है। यद्यपि पाठ्यपुस्तक 'भारतीय संविधान' के संदर्भ में व्यापक रूप से 'स्वतंत्रता का अधिकार' और 'मुफ्त एवं अनिवार्य

शिक्षा' को संबोधित करती है, किन्तु इसमें विकलांग बच्चों के शैक्षणिक अधिकारों अथवा समावेशन से संबंधित कोई विशिष्ट प्रावधान या चर्चा नहीं की गई है । यह बहिष्करण समावेशी समझ को बढ़ावा देने के अवसर की गंभीर चूक को भी दर्शाता है। इस प्रकार की अनुपस्थिति से स्पष्ट होता है कि विकलांगता को अभी तक सामाजिक विज्ञान की पाठ्यचर्या अवधारणा में पूर्णतः एकीकृत नहीं किया गया है (यादव, 2025)। यह विशेष रूप से चिंताजनक है, क्योंकि वैश्विक स्तर पर समावेशी शिक्षा पर बल दिया जा रहा है। पाठ्यपुस्तक आकस्मिक रूप से हाशियाकरण पर चर्चा करती है, जिसके परिणामस्वरूप जागरूकता और सहानुभूति का अभाव है। यह पाठ्यपुस्तक रूढ़ियों को चुनौती देने या विकलांग व्यक्तियों की क्षमताओं को उजागर करने का अवसर चूक जाती हैं, और इस प्रकार समावेशी समझ प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण अवसर भी खो देती हैं (हेडेन, 2020)। इसके अतिरिक्त, पाठ्यपुस्तक विकलांगता को समाज में सकारात्मक दृष्टिकोण और आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने का अवसर भी नहीं प्रदान करती है। पुस्तक जब विकलांगता को मुख्य पाठ्यचर्या में एकीकृत करने से चूक जाती हैं, तो वे अधिक समावेशी पीढ़ी निर्माण में योगदान नहीं कर पातीं। विश्लेषण के पश्चात परिणाम इंगित करते हैं कि पाठ्यपुस्तक विकलांग व्यक्तियों की उपस्थिति और अनुभवों की उपेक्षा करके एक आदर्शीकृत या अपूर्ण समाज का चित्रण करती है और समावेशन की नींव के रूप में पँहुच के महत्त्वपूर्ण पहलू को संबोधित करने में विफल रहती है (यादव, 2025)।

आर्थिक समावेशन:

विकलांगता-संबंधी विषयवस्तु पर चर्चा के बाद, अब हम पाठ्यपुस्तकों में आर्थिक समावेशन की विषयवस्तु पर चर्चा करते हैं। पाठ्यपुस्तक के आर्थिक समावेशन दृष्टिकोण से विविध आजीविकाओं, व्यापार और आर्थिक विनियमन में राज्य की भूमिका पर सकारात्मक चर्चा है। पाठ्यपुस्तक 'समानता का अधिकार' और 'शोषण के विरुद्ध अधिकार' जैसे संवैधानिक सिद्धांतों पर चर्चा कर आर्थिक समानता को प्रस्तुत करती है, जो निस्संदेह इसकी आधारशिला है। पाठ्यपुस्तक में सरकार मूल्य नियंत्रण और सार्वजनिक सेवाओं पर चर्चा के माध्यम से आर्थिक समावेशन को प्रोत्साहित करती है। सबसे बड़ी सीमा यह है कि पाठ्यपुस्तक समकालीन आर्थिक असमानताओं-जैसे आय असमानता या कमजोर वर्गों द्वारा सामना की जाने वाली चुनौतियों पर चर्चा नहीं करतीं । पाठ्यपुस्तक केवल आर्थिक असमानता की ऐतिहासिक संरचना पर ही केंद्रित रहती हैं और वर्तमान आर्थिक बहिष्करण और उसके प्रभावों की जाँच से चूक जाती हैं। इस विशेष व्यवहार का अर्थ है कि विद्यार्थी अनिश्चितताओं की जटिलताओं के प्रति पूरी तरह संवेदनशील नहीं हो पाते। पाठ्यपुस्तक छोटे किसानों द्वारा सामना की जाने वाली चुनौतियों, बाल श्रम, अनौपचारिक अर्थव्यवस्था, श्रमिक असुरक्षा, और आर्थिक प्रणालियों के नैतिक आयामों जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा करने के अवसर से चूक जाती हैं । यदि पुस्तक सामुदायिक सामूहिक प्रयास या सूक्ष्म-उद्यम के माध्यम से आर्थिक चुनौतियों को पार करने के उदाहरण प्रस्तुत कर सकती तो व्यावहारिक और वास्तविक जीवन समाधान हेतु प्रेरणा दे सकती हैं।

सामाजिक समावेशन:

सकारात्मक दृष्टिकोण से, पाठ्यपुस्तक समानता के संवैधानिक प्रावधानों पर बल देकर और ऐतिहासिक वर्ण-जाति प्रणाली की चर्चा कर समाज में सामाजिक बहिष्करण की प्रक्रिया को रेखांकित करती हैं। पाठ्यपुस्तक समाज में सामाजिक श्रेणियों के निर्माण और उनके प्रभाव को भी स्वीकार करती है तथा समानता के अधिकार के अंतर्गत लैंगिक समानता पर चर्चा करती है, जिसका उदाहरण इमा कैथल (पृष्ठ-176) की कहानी के रूप में दिया गया है। यह पाठ्यपुस्तक सांस्कृतिक विविधता को एक आवर्ती और उत्सवधर्मी विषय के रूप में प्रस्तुत करती है, जो क्षेत्रीय विशेषताओं, विविधताओं और धार्मिक प्रथाओं को उजागर करता है और इस प्रकार बहुलतावाद की अवधारणा को प्रोत्साहित करती है। पाठ्यपुस्तक भारत के संविधान और मौलिक अधिकारों के माध्यम से मानवाधिकार की अवधारणा को आधारभूत रूप में प्रस्तुत करती है। इसमें ऐतिहासिक हाशियाकरण का उल्लेख है, किन्तु विभिन्न हाशिए पर स्थित सामाजिक समूहों द्वारा सामना की जाने वाली समकालीन चुनौतियों (जाति और लिंग से परे) का जिक्र नहीं किया गया । न ही पुस्तक धार्मिक एकता को बढ़ावा देने वाले तथ्यों एवं कहानीयों का जिक्र करती है जो एक प्रकार से सामाजिक समावेशन के महत्वपूर्ण पहलू से अछूती रह जाती है, हालाँकि बहिष्करण का ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करती है, परंतु यह निरूपण अक्सर विचारों के वर्णनात्मक स्तर पर ही सीमित रहता है, भेदभाव की आलोचनात्मक जाँच के बजाय पाठ्यपुस्तक सांस्कृतिक विविधता के उत्सव के माध्यम से सामाजिक सामंजस्य का आदर्शीकृत दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है-जो सामाजिक बहिष्करण की प्रक्रिया पर हावी हो सकता है।

राजनीतिक समावेशन:

पाठ्यपुस्तक भारतीय संविधान की आधारशिला और मौलिक अधिकारों के प्रावधानों के माध्यम से राजनीतिक समावेशन को संबोधित करती है। यह लोकतांत्रिक प्रणाली के लिए ऐतिहासिक वंशावली प्रदान करने वाले राजनीतिक समावेशन के प्रारंभिक रूप को भी रेखांकित करती है। पुस्तक अधिकारों को सुनिश्चित करने में न्यायपालिका की भूमिका पर बल देती है, जिसे संवैधानिक उपचार का

अधिकार द्वारा उदाहरणित किया गया है, और लोकतांत्रिक सिद्धांतों के लिए ठोस आधार प्रदान करती है। हालाँकि, राजनीतिक समावेशन को प्रोत्साहित करने में पाठ्यपुस्तक की कुछ सीमाएँ भी हैं-जैसे राजनीतिक भागीदारी की समकालीन चुनौतियों, मतदाता उदासीनता, और हाशिए पर स्थित तथा सामाजिक रूप से वंचित समूहों द्वारा सामना की जाने वाली बाधाओं पर चर्चा का अभाव । पाठ्यपुस्तक विद्यार्थियों की दृष्टि ऐतिहासिक मूल्यांकन और विधिक सिद्धांतों पर केंद्रित करती है, बजाय इसके कि आधुनिक राजनीतिक समावेशन की आलोचनात्मक जाँच प्रस्तुत करे। परिणामस्वरूप, विद्यार्थी राजनीतिक बहिष्करण की जटिलताओं को पूरी तरह समझ नहीं पाते । पाठ्यपुस्तक सार्वभौमिक मताधिकार के लिए ऐतिहासिक संघर्षों, समान आवाज़ और समाज में समानता सुनिश्चित करने के लिए चल रहे प्रयासों, साथ ही नागरिक समाज संगठनों और सामाजिक आंदोलनों पर चर्चा कर सकती थी। यह मतदान से परे भागीदारी के विभिन्न मॉडलों-जैसे शांतिपूर्ण विरोध और सक्रियतावाद का भी अन्वेषण कर सकती है, विद्यार्थियों को नागरिकों के रूप में भागीदारी के लिए सशक्त कर सकती है, नेताओं की नैतिक जिम्मेदारियों और राजनीतिक प्रणाली की पारदर्शिता पर चर्चा, और भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में विभिन्न सामाजिक समूहों के योगदान को उजागर कर सकती है।

चर्चा:

यह शोध पाठ्यपुस्तक में सामग्री समावेशन की एक महत्वपूर्ण विशेषता को उजागर करता है: यह संवैधानिक अधिकारों में एक मजबूत नींव स्थापित करता है, किन्तु समकालीन वास्तविकताओं और जटिलताओं के साथ इसकी संलग्नता भिन्न है। शोध में पाया गया कि विकलांगता पर चर्चा या प्रतिनिधित्व का अभाव उल्लेखनीय है; यह उस आलोचना के अनुरूप है जिसमें कहा जा सकता है कि शैक्षिक सामग्री अक्सर विकलांग व्यक्तियों को अदृश्य कर देती है । इस प्रकार की कमी जागरूकता, सहानुभूति और अधिकार-आधारित दृष्टिकोण विकसित करने का एक खोया हुआ अवसर है; लेकिन यह विकलांग व्यक्तियों को समाज का सक्रिय सदस्य न मानकर हाशिए पर रखता है (शेवलीन एवं अन्य, 2004; यादव, 2025)। भविष्य के संस्करणों में पाठ्यपुस्तकों को विकलांग व्यक्तियों के विविध अनुभवों को सम्मिलित करना चाहिए, छात्रों को विकलांगता को एक सामाजिक कारक के रूप में समझाना चाहिए और उन्हें समावेशी नीतियों एवं समाज की वकालत करने के लिए सशक्त बनाना चाहिए । सफल पहलों एवं कहानियों के केस स्टडी विद्यार्थियों को प्रेरित करेंगे कि वे समाज के विकलांग सदस्यों के साथ जुड़ाव स्थापित करें।

पाठ्यपुस्तक आर्थिक समानता की मूलभूत अवधारणा को स्पष्ट करती है लेकिन आर्थिक अवधारणाओं की गहन चर्चा नहीं करती, बल्कि ऐतिहासिक संरचनाओं पर केंद्रित होकर एक सामान्य अवलोकन प्रस्तुत करती है, जिससे असमानता का आलोचनात्मक विश्लेषण बाधित होता है। एक व्यापक दृष्टिकोण आर्थिक बहिष्करण के पहलुओं को भी संबोधित करता, जैसे-अनौपचारिक क्षेत्र के श्रमिक, हाशिए पर स्थित समूहों के लिए ऋण तक पहुँच। पाठ्यपुस्तक को आर्थिक व्यवस्था के नैतिक पहलुओं पर भी चर्चा करनी चाहिए, आर्थिक रूप से साक्षर समाज बनाने पर बल देना चाहिए और विभिन्न आर्थिक कारकों व तकनीकी विकास के प्रभाव की पड़ताल करनी चाहिए। उदाहरण के लिए, सूक्ष्म वित्त और प्रवासी श्रमिकों की चुनौतियों को उजागर करने से छात्रों में आर्थिक बहिष्करण को समझने की संवेदनशीलता बढ़ेगी (मिलाना & अष्ठ, 2020)।

सामाजिक बहिष्करण के दृष्टिकोण से, सांस्कृतिक विविधता का उत्सव पाठ्यपुस्तक की एक प्रमुख शक्ति है क्योंकि यह बहुलतावाद को बढ़ावा देता है। किन्तु, यह प्रश्न भी आवश्यक है कि यह स्थिति सामाजिक बहिष्करण की छाया और निरंतरता को कैसे प्रभावित करती है? ऐतिहासिक अन्याय को तो स्वीकार किया गया है, पर समकालीन बहिष्करण की समालोचनात्मक पड़ताल अपेक्षित है। बहुसांस्कृतिक समाज में चुनौतियों और सामाजिक आंदोलनों की व्याख्या तथा अंतःसंबंधता की व्याख्या आवश्यक है (गरोशकोव & ट्यूरीन, 2023)। मीडिया की भूमिका और स्वतंत्रता पर भी चर्चा जरूरी है, और पाठ्यपुस्तक को छात्रों में आलोचनात्मक आत्मचिंतन, सहानुभूति और विविध सामाजिक समूहों के प्रति सम्मान विकसित करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

राजनीतिक समावेशन के दृष्टिकोण से, पाठ्यपुस्तक भारतीय संविधान और लोकतांत्रिक सिद्धांतों की नींव पर आधारित सामग्री प्रस्तुत करती है, किन्तु समकालीन राजनीतिक समावेशन को अधिक स्पष्ट रूप में सामने नहीं रख पाती। इसके लिए स्थानीय सरकार, नागरिक पहल और नागरिक भागीदारी के केस स्टडी आवश्यक हैं। पाठ्यपुस्तक को मतदाता उदासीनता और हाशिए पर स्थित समूहों की राजनीतिक भागीदारी में आने वाली बाधाओं पर चर्चा करनी चाहिए। आधुनिक राजनीतिक बहिष्करण की आलोचनात्मक पड़ताल, सामाजिक संघर्षों और नागरिक समूहों की भूमिका को समझाने से राजनीतिक समावेशन को सुदृढ़ किया जा सकता है। विभिन्न भागीदारी मॉडल, मीडिया साक्षरता और नागरिक जिम्मेदारियों पर चर्चा छात्रों को सक्रिय नागरिक बनने के लिए प्रेरित कर सकती है।

पाठ्यपुस्तक विकलांगता गर्व की अवधारणा को भी प्रस्तुत कर सकती थी, जो समाज में आत्म-वकालत और विविधता को उत्सव के रूप में मान्यता देती है । इसके अलावा, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और सम्मेलनों-जैसे संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को भी चर्चा में शामिल

करना चाहिए, जो वैश्विक स्तर पर विकलांगता अधिकारों की संवेदनशीलता और समावेशी विकास को प्रोत्साहित करते हैं (यादव, 2025)। आर्थिक समावेशन को बढ़ावा देने के लिए पाठ्यपुस्तकों में विभिन्न आर्थिक गतिविधियों, उचित श्रम प्रथाओं, गरीबी उन्मूलन की नीतियों और समावेशी आर्थिक प्रक्रियाओं पर चर्चा होनी चाहिए। सामाजिक समावेशन को विविधता के सम्मान और सकारात्मक अंतर-समूह संबंधों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है, साथ ही सामाजिक बहिष्करण की आलोचनात्मक जांच भी जरूरी है।

निष्कर्ष:

प्रस्तुत शोध विषयवस्तु विश्लेषण से समावेशन की एक मिश्रित छवि हमारे समक्ष उभरती है। इसमें समावेशन, समानता और विविधता की मूलभूत अवधारणाएँ प्रस्तुत हैं, पर सामाजिक जटिलताओं से सीमित स्तर पर जुड़ाव है। विकलांगता प्रतिनिधित्व में गंभीर अंतराल प्राप्त हुआ, जबकि सामाजिक और राजनीतिक समावेशन भी सीमित दृष्टिकोण पर आधारित रहे। पुस्तक के आगामी संस्करणों में विकलांगता पर अधिक आलोचनात्मक और सक्रिय दृष्टिकोण अपनाना होगा, हाशिए पर स्थित समूहों का सशक्त प्रतिनिधित्व करना होगा, और समकालीन आर्थिक व राजनीतिक चुनौतियों को भी शामिल करना होगा। किन्तु यह भी कहा जाएगा कि पुस्तक काफी हद समावेशन की अवधारणा को छु जाती है क्योंकि पुस्तक सरकार की स्थापना में नागरिक भूमिका, एतिहासिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण, आर्थिक गतिविधि एवं मतदान रूपी अति महत्वपूर्ण अधिकार के माध्यम से समावेशन की अवधारणा को छूने का प्रयास करती है| किन्तु विकलांगता एवं आर्थिक असमानता के मुद्दे पर पुस्तक का मौन होना एक गंभीर प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है|

शोध की सीमा:

यह शोध केवल कक्षा-7 की एक सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक तक सीमित है, जो संपूर्ण पाठ्यक्रम का प्रतिनिधित्व नहीं करता। अन्य कक्षाओं या विषयों की पाठ्यपुस्तकों का शोध न होने से व्यापक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। कूट संकेतक पद्धति के प्रयोग के बावजूद, सामग्री की व्याख्या में शोधकर्ता पूर्वाग्रह की संभावना बनी रहती है। शिक्षकों, छात्रों और पाठ्यक्रम निर्माताओं के दृष्टिकोण शामिल नहीं किए गए। दृश्य सामग्री का गहन विश्लेषण (छवि, लेआउट, डिज़ाइन) नहीं किया गया। शोध विद्यार्थियों के दृष्टिकोण या संवेदनशीलता पर पाठ्यपुस्तक सामग्री के प्रभाव का आकलन नहीं करता। शोधकर्ता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि परिणामों की व्याख्या को प्रभावित कर सकती है। एक ही पाठ्यपुस्तक पर आधारित निष्कर्ष व्यापक शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में लागू नहीं किए जा सकते।

संदर्भ सूची-

1. अटकिसोन, आर., & डवोउदी, एस. (2000). द कान्सेप्ट ऑफ सोशल इक्स्क्लूशन इन द यूरोपियन यूनियन: कांटेक्स्ट, डेवलपमेंट, एण्ड पासबिलिटीज. *जर्नल ऑफ यूरोपियन सोशल पॉलिसी,*10(4), 339–358.
2. बुनबूरी, एस. (2018). डिसबिलिटी इन हाइयर एजुकेशन- डू रीज़नबल अजस्ट्मन्ट कन्ट्रिब्यूट टू एन इन्क्लूसिव करिक्यलम? *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इन्क्लूसिव एजुकेशन,* 24(9), 964–979. https://doi.org/10.1080/13603116.2018.1503347
3. भट्टाचार्य, यू. (2019). माइ स्कूल इस अ बिग स्कूल: इमगिनेड कॉममुनिटीस, इन्क्लूशन, एण्ड आइडीयोलाजी इन इंडियन टेक्स्ट्बुक. *जर्नल ऑफ करिक्यलम स्टडीस,* 51, 664 - 677. https://doi.org/10.1080/00220272.2019.1567822
4. कार्टर, बी. एम., थरुस्तों, डब्लू., & सुमपटेर, डी. एफ. (2023). ओवरकमिंग मार्जनलज़ैशन बाइ क्रेयटिंग अ सेन्स ऑफ बिलॉगइंग. *क्रिएटिव नर्सींग,* 29(4), 320–327. https://doi.org/10.1177/10784535231216464
5. फर्नांडीज, के. (2022). इन्क्लूसिव एजुकेशन इन प्रैक्टिस: डिसबिलिटी, 'स्पेशल नीड्स' एण्ड द (री)पर्डक्शन ऑफ नॉर्मेतिविटी इन इंडियन चाइल्ड्हुड. चिल्ड्रेनस जीओग्राफीस, 20, 818 - 831. https://doi.org/10.1080/14733285.2022.2124845
6. फाहीम, एम. (2023). ग्रासरूट डेमोक्रेसी एण्ड लोकल गवर्नन्स इशूज: पर्स्पेक्टिव फ्रॉम रुरल इंडिया. *रेविस्ता डी गेसताओ सोशल ई अंबिएन्टल,* 17(10), e03407. https://doi.org/10.24857/rgsa.v17n10-005
7. हक, आर. (2013). इन्टरसेक्शनालिटी ऑफ जेन्डर एण्ड अदर फॉर्म्स ऑफ आइडेंटिटी. *जेन्डर इन मैनेजमेंट: अन इंटरनेशनल जर्नल,* 28(3), 171–184. https://doi.org/10.1108/gm-01-2013-0010
8. हेडेन, एच. ई., & प्रिंस, ए. एम. (2020). दिसरूपतिंग आबलेसम: स्ट्रेंगथ-बेस्ड रीप्रेज़न्टैशन ऑफ डिसबिलिटी इन चिल्ड्रेन पिक्चर बुक्स. *जर्नल ऑफ ईर्ली चाइल्ड्हुड लिटरसी,* 23(2), 236–261. https://doi.org/10.1177/1468798420981751
9. होसैन, एम. एस., होसेन, एम., लोह, वाई. एफ., & पेक, सी. (2024). एक्सपलोरींग कॉनटेंपोररी चलेंजेज एण्ड प्रस्पेक्टिव सोल्युशंस फॉर वोमएन्स एमपोवर्मेंट: डज वोमएन्स एमपोवर्मेंट इम्पैक्ट अचिएवीनग सस्टैनबल डेवलपमेंट गोल फाइव? बिजनस स्ट्रैटिजी सांप; डेवलपमेंट, 7(1). https://doi.org/10.1002/bsd2.355
10. जार्डिनेज, एम. जे., & नतिविदाद, एल. आर. (2024). द एडवांटेड एण्ड चलेंगेस ऑफ इन्क्लूसिव एजुकेशन: स्त्रीविनग फॉर एक्विटी इन द क्लासरूम. *शनलक्ष इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशन,* 12(2), 57–65. https://doi.org/10.34293/education.v12i2.7182

11. कोसिर, एस. & लक्ष्मीनारायण, आर. (2022). डू विसुअल कन्स्ट्रक्ट इन सोशल साइंस टेक्स्ट्बुक इविन्स जेन्डर स्टेरीओटाइप एण्ड बाईस? अ केस स्टडी फ्रॉम इंडिया. *जेन्डर एण्ड एजुकेशन*, 35, 69 - 88. https://doi.org/10.1080/09540253.2022.2144626
12. मंजा, जे. & उगगेन, सी. (2004). पुनिशमेंट एण्ड डिमाक्रसी: डिसेनफ्रनकहीसेमेन्ट ऑफ नोनिनकरकेरटेड फेलोन्स इन द यूनाइटेड स्टेट्स. *पर्स्पेक्टिव ऑन पॉलिटिक्स*, 2(03). https://doi.org/10.1017/s1537592704040290
13. मिलाना, सी. & अस्ता, अ. (2020). माइक्रोफाइनैन्स एण्ड फाइनैन्शल इन्क्लूशन: चलेंगेस एण्ड आपर्टूनिटीज. *स्ट्रटीजिक चेंज,* 29(3), 257–266. https://doi.org/10.1002/jsc.2339
14. मोहम्मद, डब्ल्यू. एस. & अल्दाखिल, ए. एफ. (2024). प्रोमोटिंग इन्क्लूसिव लर्निंग इनवायरनमेंट्स: लेवरेजिंग यूनिवर्सिटी वेबसाईट्स फॉर डिजिटल एम्पावरमेंट इन द पोस्ट-कोविड-19 इरा. *हेल्थकेयर (बेसल, स्विट्ज़रलैंड),* 12(12), 1212. https://doi.org/10.3390/healthcare12121212
15. मातवेयेवा, ओ. (2024). ए जेंडर पर्सपेक्टिव ऑन द रोल ऑफ टेक्नोलॉजी इन डेमोक्रेटिक डेवलपमेंट थ्रू वॉरटाइम सिविक इनगेजमेंट. *जर्नल ऑफ जेंडर स्टडीज़, अहेड-ऑफ-प्रिंट(अहेड-ऑफ-प्रिंट),* 1–15. https://doi.org/10.1080/09589236.2024.2387197
16. नेग्रेट्टो, जी. (2020). कॉन्स्टिट्यूशन-मेकिंग एण्ड लिबरल डेमोक्रेसी: द रोल ऑफ सिटिज़न्स एण्ड रेप्रेजेन्टेटिव एलीट्स. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ*, 18(1), 206–232. https://doi.org/10.1093/icon/moaa003
17. नायक, एस. & सुरेन्द्रन, ए. (2021). कास्ट बायसिज़ इन स्कूल टेक्स्टबुक्स: ए केस स्टडी फ्रॉम ओडिशा, इंडिया. *जर्नल ऑफ करीकुलम स्टडीज़,* 54, 317–335. https://doi.org/10.1080/00220272.2021.1947389
18. पटेल, एस. & सिंह, एस. (2024). इन्क्लूसिव ऑर एक्सक्लूज़नरी? ए स्टडी ऑफ रिप्रेजेन्टेशन ऑफ डिसएबिलिटी इन इंडियन प्राइमरी स्कूल टेक्स्टबुक्स. *एजुकेशन,* 3-13. https://doi.org/10.1080/03004279.2024.2412696
19. सेन, ए. (2000). *सोशल एक्सक्लूज़न: कॉन्सेप्ट, एप्लीकेशन, एण्ड स्क्रूटिनी.* एशियन डेवलपमेंट बैंक.
20. स्कॉकपोल, टी. & फियोरिना, एम. (2000). सिविक इनगेजमेंट इन अमेरिकन डेमोक्रेसी. *चॉइस रिव्यूज़ ऑनलाइन,* 37(07), 37–4156. https://doi.org/10.5860/choice.37-4156
21. स्ली, आर. (2011). *इर्रेगुलर स्कूल: एक्सक्लूज़न, स्कूलिंग, एण्ड इन्क्लूसिव एजुकेशन.* रूटलेज.
22. सैयद, ई. (2018). कॉन्फ्लिक्ट बिटवीन कवर्स: कॉन्फ्रंटिंग ऑफिशियल करीकुलम इन इंडियन टेक्स्टबुक्स. *करीकुलम इन्क्वायरी*, 48, 540–559. https://doi.org/10.1080/03626784.2018.1546099
23. सैंडोवल गोमेज़, ए. & मैकी, ए. (2020). व्हेन स्पेशल एजुकेशन एण्ड डिसएबिलिटी स्टडीज़ इंटरट्वाइन: एड्रेसिंग एजुकेशनल इनइक्विटीज़ थ्रू प्रोसेसेज़ एण्ड प्रोग्रामिंग. *फ्रंटियर्स इन एजुकेशन*, 5. https://doi.org/10.3389/feduc.2020.587045
24. सुब्रमणियन, जे. & एस., ए. (2023). बीइंग इन्क्लूसिव ऑर रिइनफोर्सिंग ऑफ सोशल स्टीरियोटाइप्स. *प्रोमेटेका - रेविस्टा डे फिलोसोफिया वाई सियेंशियास,* https://doi.org/10.34024/prometeica.2023.27.15363
25. थॉम्पसन, एस., मुखर्जी, डी., & रोह्वेर्डर, बी. (2023). डिसएबिलिटी, रिलिजन, एण्ड जेंडर: एक्सप्लोरिंग एक्सक्लूज़न इन इंडिया थ्रू एन इंटरसेक्शनल लेंस. *सोशल इन्क्लूज़न,* 11(4), 314–325. https://doi.org/10.17645/si.v11i4.7129
26. यूनाइटेड नेशन्स. (2016). *लीविंग नो वन बिहाइंड: द इम्परेटिव ऑफ इन्क्लूसिव डेवलपमेंट.* न्यूयॉर्क: यूएन.
27. यूनाइटेड नेशन्स एजुकेशनल, साइंटिफिक, एण्ड कल्चरल ऑर्गेनाइज़ेशन. (2009). *इन्वेस्टिंग इन कल्चरल डायवर्सिटी एण्ड इंटरकल्चरल डायलॉग्स.* पेरिस: यूनेस्को.
28. यूनाइटेड नेशन्स डेवलपमेंट प्रोग्राम. (2012). *पॉलिटिकल इन्क्लूज़न ऑफ पर्सन्स विद डिसएबिलिटीज़.* न्यूयॉर्क: यूएनडीपी.
29. यूनाइटेड नेशन्स एजुकेशनल, साइंटिफिक, एण्ड कल्चरल ऑर्गेनाइज़ेशन. (2017). *ए गाइड फॉर एंश्योरिंग इन्क्लूज़न एण्ड इक्विटी इन एजुकेशन.* पेरिस: यूनेस्को.
30. वर्ल्ड बैंक. (2013). *इन्क्लूज़न मैटर्स: फाउंडेशन फॉर शेयर्ड प्रॉस्पेरिटी.* वॉशिंगटन, डीसी: वर्ल्ड बैंक.
31. वर्ल्ड बैंक. (2014). *ग्लोबल फाइनेंशियल डेवलपमेंट रिपोर्ट 2014: फाइनेंशियल इन्क्लूज़न.* वॉशिंगटन, डीसी: वर्ल्ड बैंक.
32. यादव, ए. (2025). ए कंटेन्ट एनालिसिस ऑफ इन्क्लूज़न इन एनसीईआरटी्स एक्सप्लोरिंग सोसाइटी: इंडिया एण्ड बियॉन्ड (क्लास 6 सोशल साइंस टेक्स्टबुक). *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सिस्टम्स इंजीनियरिंग,* 9(1), 1–8. https://doi.org/10.11648/j.ijse.20250901.11
33. यागोडा, एन. (2019). एड्रेसिंग हेल्थ डिस्पैरिटीज़ थ्रू वोटर इनगेजमेंट. *एनाल्स ऑफ फैमिली मेडिसिन,* 17(5), 459–461. https://doi.org/10.1370/afm.2441
34. ज़िल्ला, सी. (2022). डिफाइनिंग डेमोक्रेटिक इन्क्लूज़न फ्रॉम द पर्सपेक्टिव ऑफ डेमोक्रेसी एण्ड सिटिज़नशिप थ्योरी. *डेमोक्रेटाइज़ेशन,* 29(8), 1518–1538. https://doi.org/10.1080/13510347.2022.2090929